कल्याण

वर्ष ४६]

[अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६६,५००

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, अक्टूबर १९७२

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
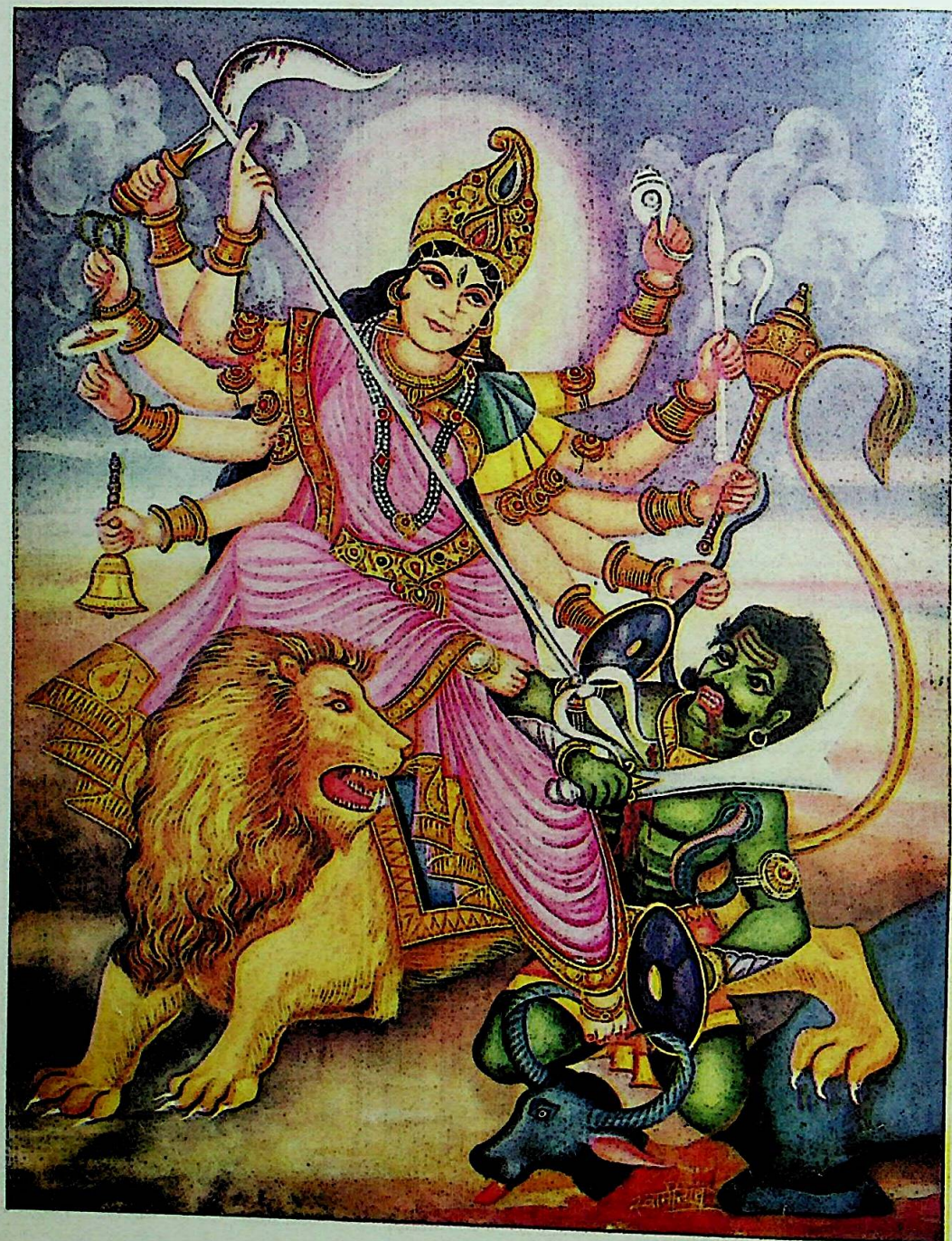
भगवती महिषासुरमर्दिनी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
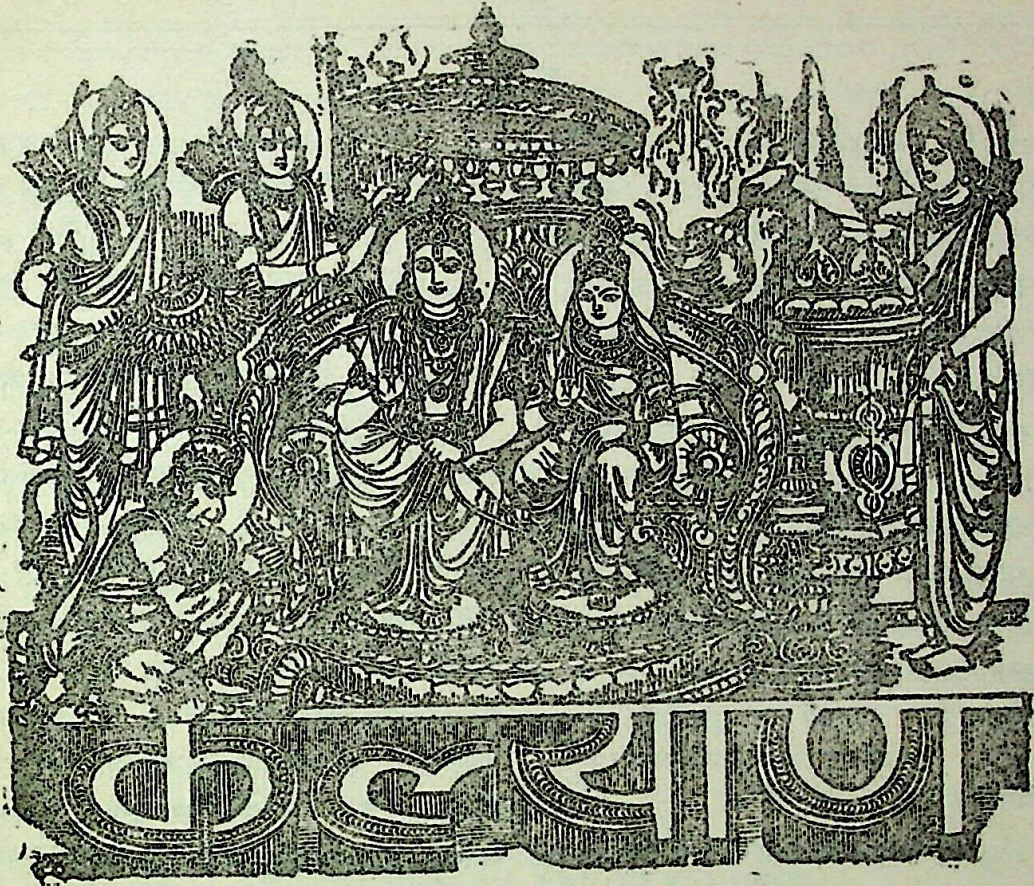
दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥

(रामरक्षास्तोत्र ३१)

वर्ष ४६ | गोरखपुर, सौर कार्तिक, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, अक्टूबर १९७२ | संख्या १० पूर्ण संख्या ५५१

श्रीश्रीदुर्गास्तवन

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि ।
दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदाऽऽर्द्रचित्ता ॥

(श्रीदुर्गासप्तशती ४ । १७)

माँ दुर्गे ! आप स्मरण करनेपर सब प्राणियोंका भय हर लेती हैं और स्वस्थ पुरुषोंद्वारा चिन्तन करनेपर उन्हें परम कल्याणमयी बुद्धि प्रदान करती हैं । दुःख, दरिद्रता और भय हरनेवाली देवि ! आपके सिवा दूसरी कौन है, जिसका चित्त सबका उपकार करनेके लिये सदा ही दयार्द्र रहता हो !

कल्याण

बार-बार हमलोग यह बात कहते-सुनते हैं—'हम मनुष्य हैं।' किंतु मनुष्यकी मनुष्यताका वास्तविक आरम्भ होता है तब, जब मनुष्य मानव-जीवनके लक्ष्यपर चलना आरम्भ करता है। विषय-भोग, इन्द्रियोंके भोग, मानव-शरीरके—मनुष्य-योनिके उद्देश्य नहीं हैं—

'एहि तन कर फल बिषय न भाई।'
(मानस ७ । ४३½)

मानव-शरीरमें और इतर शरीरोंमें यही भेद है। दूसरे समस्त शरीर भोगयोनि हैं; मानव-शरीर कर्मयोनि है और वह मोक्षका द्वार है। शास्त्रोंने इसे भवसागरसे पार उतार देनेवाली सुदृढ़ नौका कहा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । १७)

भगवान् कहते हैं मनुष्य-जन्म—मनुष्यका शरीर बड़ा दुर्लभ है। यह भगवत्कृपासे सुलभतासे प्राप्त हुआ है। यह है कैसा ? यह बड़ी सुन्दर, सुदृढ़, भवसागरसे पार उतार देनेवाली नौका है। संत-महात्मा, गुरु-आचार्य तथा स्वयं भगवान् इसके कर्णधार हैं—नावको खेनेवाले निर्भ्रान्त, सबल तथा ठीक-ठीक पार पहुँचा देनेवाले केवट प्राप्त हो गये हैं। नौकाके पार उतरनेके लिये अनुकूल वायुकी आवश्यकता होती है, बिना अनुकूल वायुके नौकाके पार उतरनेमें संदेह होता है—कठिनाई होती है।

'मयानुकूलेन नभस्वतेरितम्'

—भगवान्की कृपारूपी अनुकूल वायु इसे प्राप्त है। इतनेपर भी जो **'भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा'** —भवसागरसे पार नहीं उतरता, वह आत्महत्यारा है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥
(मानस ७ । ४४)

—यह है मानव-जीवनका उद्देश्य और उसकी उपयोगिता। अतएव बहुत गम्भीरतापूर्वक विचार करके मानवको अपने जीवनका कर्तव्य निश्चित करना चाहिये तथा उसका पालन करना चाहिये। जहाँ मानव-जीवन बहुत बड़ी आशाकी चीज, बहुत बड़े भरोसेकी चीज—भगवत्प्राप्तिका साधन है, वहाँ वह बड़े खतरेकी चीज भी है। यह खतरा दूसरी योनियोंमें नहीं है। अन्य योनियाँ—चाहे वे बाघ, कुत्ता, बिच्छू, साँपकी ही क्यों न हों—अपने-अपने कर्मका फल भोगकर आगे बढ़ रही हैं—उनकी क्रमोन्नति हो रही है; लेकिन मानव-जीवन कर्मयोनि होनेके कारण इसे कर्म करनेका अधिकार है **'कर्मण्येवाधिकारस्ते।'** मानवके लिये ही भगवान्ने, ऋषियोंने विधि-निषेधात्मक शास्त्रोंकी रचना की है, जिनसे वह जान सके कि उसके लिये क्या करना उचित है, क्या अनुचित है। क्या विधेय है, क्या निषिद्ध है यह जानकर वह उन कर्मोंको करने लगता है, जिन कर्मोंके द्वारा भगवद्भक्ति प्राप्त हो, भगवान्की उपलब्धि हो, भगवान्का तत्त्वज्ञान प्राप्त हो। यदि वह उन कर्मोंको नहीं करता, यदि वह मोहवश भोगोंमें आसक्त होकर भोगोंमें ही लिप्त रहता है, तो मानव-जीवन बड़े खतरेकी चीज बन जाती है।

जिसका जीवन भोगपरायण है—जो कामोपभोग-परायणताको ही जीवनका चरम लक्ष्य मानता है, वह मानवके रूपमें असुर है। उस असुर मानवको पाँच चीजें प्राप्त होती हैं—चार इसी जीवनमें और एक इस जीवनकी समाप्तिके पश्चात्। प्रथम—उसका चित्त

कभी शान्त नहीं रहता, यह अनुभवपूर्ण सत्य है कि यहाँ कोई कितना ही वैभवसम्पन्न क्यों न हो जाय—अरबपति हो जाय, विश्वका सम्राट् हो जाय, सब प्रकारकी सुविधाएँ उसे प्राप्त हो जायँ, जबतक वह भोग-जगत्में है, उसके चित्तको कभी शान्ति नहीं मिलती। द्वितीय—मृत्युके अन्तिम श्वासतक वह अत्यन्त चिन्ताग्रस्त रहता है—चिन्ताके दुःख-सागरमें डूबता-उतराता रहता है, वह चिन्ताकी अग्निमें निरन्तर जलता रहता है। तृतीय—वह पापमें लीन रहता है। भोग-कामना उसके विवेकका अपहरण कर लेती है और उसका जीवन पाप-परायण हो जाता है। चतुर्थ—उसकी मृत्यु अत्यन्त दुःखमय होती है। मृत्युके समय उसे स्मरण होता है—यह छूट गया, वह छूट गया, वह काम नहीं हुआ………………। न जाने कहाँ-कहाँ उसकी वृत्ति जाती है और बहुत ही वेदनाके साथ उसका अन्त होता है। पञ्चम—मरनेके बाद उसे बुरे-बुरे नरकोंकी प्राप्ति होती है—'पतन्ति नरकेऽशुचौ',—एक बार नहीं, वह 'जन्मनि-जन्मनि—एक जन्मके पश्चात् दूसरे जन्ममें' असुरयोनिको प्राप्त होता है। इस प्रकार जिस महान् उद्देश्यके लिये—भगवान्को प्राप्त करनेके लिये मानव-शरीर प्राप्त हुआ है, वह उद्देश्य अधूरा रह जाता है तथा जीवनकी समाप्तिके पश्चात् उसे अधम गतिकी प्राप्ति होती है, नरकोंमें घोर यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

मानव-जीवनका यह स्वरूप कि जहाँ यह मोक्षका द्वार है, वहीं नरकका भी द्वार है, इस सत्यको हम ठीकसे अनुभव करें, उसको समझें और वास्तविक रूपमें मानव बननेका प्रयत्न करें। "भाईजी"

नतमस्तक

(विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ टैगोरके 'जेथाय थाके सबार अधम' पदका श्रीसत्यकाम विद्यालंकारद्वारा किया हुआ भावानुवाद)

नाथ ! जहाँ सबसे अधम, दीनों-के-दीन जन रहते हैं, वहाँ
सबसे पिछड़े और सबसे तिरस्कृत लोगोंके मध्य तेरे
चरण विराजमान हैं।
जब मैं तुझे प्रणाम करता हूँ, तब मेरा विनत मस्तक नमनकी
सीमातक पहुँचकर भी तेरी चरण-पीठिकातक नहीं
पहुँच पाता।
क्योंकि तेरे चरण सबसे निम्न और दीन जनोंके मध्य स्थित
हैं। मेरा मस्तक झुककर भी तेरे चरणोंकी सतहतक
नहीं पहुँचता!

जहाँ तू दीन-जनोंके दरिद्रवेषमें सर्व-दलित, सर्व-तिरस्कृत,
अतिदीन जनोंके मध्य संचार करता है, वहाँ मेरा
अहंकार नहीं पहुँचता।
धन-मान-सम्पन्नोंके मध्य मैं तुझे पानेकी आशा करता हूँ;
किंतु मेरा साहचर्य तो उनसे है, जिनका कोई और
सहचर नहीं।
उन सर्वदलित, तिरस्कृत और दीनोंके दीनजनोंतक मेरा
हृदय नहीं पहुँच पाता।

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

मनुष्य-जीवनकी दुर्लभता और हमारा कर्तव्य

मनुष्य-जीवन बड़ा दुर्लभ है, बड़े पुण्य-संचयसे भगवान्‌की कृपा होनेपर ही यह प्राप्त होता है। इसका एक-एक क्षण भगवत्स्मरणमें और भगवान्‌की सेवामें ही बिताना चाहिये। पर बड़े ही खेदकी बात है कि हमारा बहुत-सा समय यों ही बीत गया और अब भी बीता ही जा रहा है। इसलिये शीघ्र सचेत होकर हमें अपने कर्तव्यका पालन करते हुए मनुष्य-जीवनको सफल बनाना चाहिये, जिससे भविष्यमें पश्चात्ताप न करना पड़े।

अतः प्रतिक्षण क्षीण होनेवाले इस मनुष्य-जीवनके अमूल्य समयका हमने किस हदतक सदुपयोग किया, यह हमें विचारना चाहिये। केवल मनुष्यका ही शरीर ऐसा है, जिसमें यह जीव सदाके लिये जन्म-मरणसे छुटकारा पाकर परमात्माको प्राप्त कर सकता है। यदि हम अपनी असावधानीसे इस दुर्लभ मानव-जीवनको पशुओंकी भाँति आहार, निद्रा और मैथुनमें लगा दें तो हमारा जीवन पशु-जीवन ही समझा जायगा।

श्रीचाणक्यने कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥
(चाणक्यनीति १७। १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें एक समान ही हैं। मनुष्योंमें केवल विशेषता यही है कि उनमें ज्ञान अधिक है, किंतु ज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंके ही तुल्य हैं।'

अतः हमलोगोंको अपने समयका सदुपयोग करना चाहिये, नहीं तो अन्तमें हमको घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस विषयमें श्रुति हमें चेतावनी देती हुई कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केनोपनिषद् २। ५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें परमात्म-तत्त्वको जान लिया जायगा तो सत्य है यानी उत्तम है; और यदि इस जन्ममें हमने उसको नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तन कर—परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते हैं, अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि समस्त प्राणियोंमें परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते हुए ही अपना जीवन सफल बनाये। मनुष्यका जन्म बहुत ही दुर्लभ है। वह ईश्वरकी कृपासे हमें प्राप्त हो गया है। ऐसा सुअवसर पाकर जीवनके महत्त्वपूर्ण समयका एक क्षण भी हमें व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। जिस कामके लिये हम आये हैं, उसे सबसे पहले करना चाहिये। जो काम हमारे बिना हमारी जीवितावस्थामें दूसरे कर सकते हैं, वह काम उन्हींसे करा लेना चाहिये, उस काममें अपना अमूल्य समय नहीं लगाना चाहिये। और जो काम हमारे मरनेके बाद हमारे उत्तराधिकारी कर सकते हैं, चाहे वह कैसा भी जरूरी क्यों न हो, उस काममें भी अपना अमूल्य समय नहीं लगाना चाहिये। पर जो काम हमारे बिना न हमारे जीवनकालमें

और न मरनेपर ही दूसरे किसीके द्वारा सम्पन्न हो सकता है तथा जो हमारे इस लोक और परलोकमें परम कल्याण करनेवाला है और जिस कामके लिये ही हमें यह मनुष्य-शरीर मिला है एवं जिस काममें थोड़ी भी कमी रहनेपर हमें पुनः जन्म लेना पड़ सकता है, साथ ही जिस कार्यकी पूर्ति हमारे बिना किसी भी दूसरेसे कभी हो ही नहीं सकती, उस कामको तो सबसे अधिक महत्त्वका और सबसे अधिक जरूरी समझकर तत्परताके साथ सबसे पहले हमें करना ही चाहिये। वह काम है—परमात्माकी प्राप्ति। उसकी प्राप्तिका उपाय है—ईश्वरकी भक्ति, उत्तम गुणोंका संग्रह, उत्तम आचरणोंका सेवन, संसारसे वैराग्य और उपरति, सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय, परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान, मन और इन्द्रियोंका संयम, दुःखी और अनाथोंकी निष्काम सेवा आदि-आदि। अतः इन्हीं कामोंमें अपना समय अधिक-से-अधिक लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

श्रद्धाका स्वरूप एवं महत्त्व

ईश्वर, महात्मा और श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रोंके वचनोंमें जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास है, उसका नाम 'परम श्रद्धा' है। जो कुछ हमारी जानकारीमें आता है, उसे तो हम मानते ही हैं; परंतु जो हमारे ज्ञानमें नहीं है, उसके सम्बन्धमें उपर्युक्त प्रकारके वचनोंमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर जो श्रद्धा है, उसको 'परम श्रद्धा' कहते हैं। उदाहरणके लिये, भगवान् सर्वसाधारणके देखनेमें नहीं आते, पर शास्त्रोंपर और महात्माओंपर विश्वास करके दृढ़रूपसे यह समझ लेना कि निश्चय ही परमात्मा है—यह परम श्रद्धाका एक स्वरूप है। सत्यवादी महात्मा पुरुष किसी एक मकानको सोनेका कह दें और श्रद्धालु पुरुषको उसी क्षण वह मकान सोनेका ही दीखने लगे—यह 'परम श्रद्धा' है। श्रद्धाका यह भाव बड़ा अद्भुत है; क्योंकि वह मकान उसीकी जानकारी तथा देख-रेखमें चूना, मिट्टी, पत्थर और ईंटोंसे बना हुआ है; पर जब संतके मुखसे निकल गया कि 'यह सोनेका है', तब तत्काल वह सोनेका ही दीखने लग गया, यह सर्वोत्तम श्रद्धा है।

इससे निम्न श्रेणीकी श्रद्धामें मकान तो चूनेका ही दीखता है, किंतु उसके विश्वासमें वह सोनेका हो गया है। अर्थात् वह समझता है कि ऊपरसे वह चूनेका दीखता है, परंतु भीतरसे सोनेका अवश्य हो गया। इस प्रकार चूनेका मकान दीखते हुए भी उसे वह सोनेका ही समझता है। इससे और नीचे दर्जेकी श्रद्धावाला पुरुष कहता है कि 'यदि महात्मा कह देते कि मकान सोनेका बन जायगा तो वह सोनेका बन चुका होता; किंतु इनके मुखसे जिस समय यह बात निकली, उस समय यह मकान चूनेका ही था। अतः अब भी चूनेका ही है। हाँ, उसे यह विश्वास अवश्य है कि यदि महात्मा कह दें कि यह सोनेका बन जायगा तो सोनेका बन सकता है।' यह तृतीय श्रेणीकी श्रद्धा है। इससे भी नीची—चौथे दर्जेकी श्रद्धा उसकी है, जो यह समझता है कि जो बात सम्भव है, वह तो महात्माके कहनेसे अवश्य हो सकती है—जैसे यदि किसीको लड़का या लड़की होनेवाली है और महात्मा कह दें कि यह होगा, तो वह बात हो सकती है; परंतु वे कह दें कि उसके पत्थर पैदा होगा तो यह असम्भव है—ऐसा नहीं हो सकता। सच्चे महात्माओंके लिये सब कुछ सम्भव है। उदाहरणके लिये यादव-बालकोंने साम्बको गर्भवती स्त्री सजाया और उसे मुनियोंके पास उनकी परीक्षाके लिये ले जाकर पूछा कि 'इसके क्या होगा?' मुनियोंने कह दिया कि 'इसके मूसल होगा।' तो वह मूसल ही निकला। मुनियोंने यादव-बालकोंका कपट जान लिया।

जानकर उन्होंने असम्भव-सी बात कह दी, पर वह सत्य हो गयी। साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया कि 'इस मूसलसे तुम्हारे कुलका नाश होगा' तो उससे उनका नाश ही हो गया।

अतएव जो पुरुष वास्तवमें परम श्रद्धालु है और जिसे संत-महात्माकी बातपर अचल विश्वास है, उसका तो यह निश्चय है कि महात्मा यदि असम्भव बात भी कह दें तो वह सम्भव हो सकती है और उनके कहनेसे सम्भव भी असम्भव हो सकती है। इसी प्रकार उच्चकोटिके पुरुषोंका संकल्प भी ऐसा ही होता है। उच्चकोटिके पुरुष न तो भविष्यकी बात ही निश्चितरूपसे कहते हैं और न निश्चितरूपसे भविष्यका संकल्प ही करते हैं। जो कुछ हो रहा है, वे उसीमें मस्त हैं। एक क्षणके बाद क्या होनेवाला है, क्या होगा—इसको वे न तो जाननेकी इच्छा ही करते हैं, न जाननेकी आवश्यकता ही समझते हैं और न इस बातके जाननेको अच्छा ही समझते हैं। ऐसे पुरुष ही सत्य-संकल्प होते हैं। जो लोग वृथा संकल्प करते रहते हैं, उनके संकल्प सत् नहीं होते। संकल्पके विषयमें एक रहस्यकी बात यह है कि जो मनुष्य अपना कल्याण चाहते हैं, उनको भविष्यका कोई भी संकल्प नहीं करना चाहिये। भावी संकल्प भावी जन्मका कारण होता है। आपके मनमें यह संकल्प हुआ कि 'मैं कल कलकत्ते जाऊँगा' और किसी कारणसे आज आपकी मृत्यु हो गयी तो फिर आपको उस संकल्पके कारण दूसरा जन्म लेकर कलकत्ते जाना पड़ेगा। इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको यही समझना चाहिये कि मुझको कुछ भी नहीं करना है। जो कुछ हो रहा है, उसे देखते रहना चाहिये। एक क्षणके बाद मुझे यह काम करना है, यह संकल्प भी नहीं करना चाहिये। यदि कहा जाय कि 'ऐसा संकल्प न करनेसे कार्य कैसे होगा? भोजन करना है, नीचेसे ऊपर जाना है, ऊपरसे नीचे उतरना है, इसके लिये तो पहले मनमें संकल्प होगा, तभी उसके अनुसार क्रिया होगी।' तो यह बात ठीक है। पर इस विषयमें विकल्पसहित ही संकल्प करना चाहिये। 'विकल्पसहित'से तात्पर्य यह है कि जैसे ऊपर जानेकी आवश्यकता है, यह ठीक है; पर ऊपर जाना बन जाय तो बन जाय, न बने तो न बने। भोजन करनेका समय हो गया तो भोजनके लिये वहाँसे चल दिये। भोजन मिल गया तो खा लिया, नहीं तो नहीं। कोई संकल्प नहीं। यदि कोई संकल्प उठे भी तो उसके साथ यह भी विकल्प रहे—'हो जाय तो अच्छी बात है, न हो तो भी अच्छी बात है, अमुक काम करनेका विचार है, कोई निश्चय नहीं। जो कुछ बन जाय, वही सत्य है।' किसीने पूछा कि 'अब आपको क्या करना है?' तो भीतरसे यह आवाज आनी चाहिये कि 'कुछ भी करना नहीं है।' जैसे महात्मा—कृतकृत्य पुरुषको तो कुछ करना शेष रहता ही नहीं, वैसे ही साधकको भी अपने हृदयमें यह भाव रखना चाहिये कि मुझे कुछ करना नहीं है। वर्तमानमें जो भजन-ध्यान हो रहा है, वह वर्तमान क्रिया हो रही है भविष्यके लिये नहीं। वर्तमान क्रियामें जो साधन चल रहा है, उसके विषयमें साधककी यही समझ रहनी चाहिये कि 'ऐसी अवस्थामें प्राण चले जायँ तो कोई हर्ज नहीं है। भविष्यमें तो मेरे लिये कुछ करना शेष है नहीं। जो कुछ हो रहा है, परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। जो भी हो रहा है, सब ठीक हो रहा है। मेरेद्वारा जो कुछ हो रहा है, वह भी परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। परेच्छा, अनिच्छासे जो हो रहा है, वह भी परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। मुझको तो कुछ करना है ही नहीं। मेरे-

द्वारा भी जो कुछ भी परमात्मा करवा रहे हैं, वह मेरे लिये मङ्गलकी बात है। उनकी जैसी इच्छा हो, करवायें। मुझे तो कुछ भी करना है नहीं।' मनमें ऐसा निश्चय रक्खे कि 'जो कुछ हो रहा है, सब स्वाभाविक ही हो रहा है, परमात्मा करवा रहे हैं। उनकी मुझपर दया है।' इस प्रकार निश्चिन्त होकर रहे। जैसे कोई मनुष्य टिकट खरीदकर गठरी-मोटरी लिये ट्रेनपर बैठनेके लिये तैयार रहता है और ट्रेनकी बाट देखता रहता है, उसी प्रकारसे मनुष्यको समस्त कार्योंसे निपटकर मृत्युकी प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। यह बहुत ही उत्तम भाव है। महात्मा पुरुषका जो स्वाभाविक भाव है, साधकके लिये वही साधन है।

अतः मनुष्यमात्रका कर्तव्य है कि परमात्माको आत्मसमर्पण करके यह निश्चय रक्खे कि परमात्मा मेरे-द्वारा जो करवा रहे हैं, सो ठीक करवा रहे हैं; जो कुछ अनिच्छा-परेच्छासे हो रहा है, ठीक हो रहा है। ऐसा भाव रक्खे कि भगवान्‌का जो विधान है, वह वास्तवमें न्याय है और मेरे लिये मङ्गलकारक है। साधकका यह भाव उच्चकोटिका है।

अनिच्छासे जैसे किसीका लड़का मर गया, शरीरमें रोग हो गया, घरमें आग लग गयी तो बहुत आनन्दकी बात है। इसके विपरीत लड़का पैदा हो गया, घरमें लाख रुपये आ गये या शरीर स्वस्थ हो गया—तब भी आनन्दकी बात है। चाहे कोई मान करे या अपमान करे, निन्दा करे या स्तुति करे—दोनोंमें तनिक भी अन्तर नहीं। जैसी निन्दा, वैसी ही स्तुति। जैसा मान, वैसा ही अपमान। जैसा मित्र, वैसा ही शत्रु और जैसा सुख, वैसा ही दुःख। इस प्रकार जिनका सर्वत्र समभाव है, वे ही पुरुष श्रेष्ठ हैं। ऐसे महात्माके जो लक्षण शास्त्रोंमें बताये गये हैं, उनको लक्ष्य बनाकर जो अभ्यास करता है, वह शीघ्र महात्मा बन जाता है। यह बड़ी मूल्यवान् वस्तु है। महात्मामें तो यह स्वाभाविक है, साधकके लिये वही आदर्श साधन है। जो मनुष्य साधन मानकर इस प्रकार अभ्यास करता है, वह आगे चलकर शीघ्र ही महात्मा बन जाता है। किसी आदमीने गाली दी तो आनन्द, प्रशंसा की तो आनन्द; उनमें किंचित् भी भेद न समझे। यों समझे कि निन्दा-स्तुति दोनों ही वाणीके विषय हैं—आकाश-के गुण हैं, शब्दमात्र हैं। इनमें भला और बुरा क्या है? निन्दा और स्तुति होती है नामकी। मैं नामसे रहित हूँ। मान-अपमान होता है रूपका—देहका, मैं इस रूप या देहसे सर्वथा पृथक्—रहित हूँ। न मेरा मान है न मेरा अपमान; न मेरी निन्दा न मेरी स्तुति। इनसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारका ज्ञान आत्माका कल्याण करनेवाला है।

श्रीकृष्ण-चरणारविन्द ही जीवकी एकमात्र गति हैं

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात् संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात् ॥

ब्रह्मा और शिवादि देवेश्वर भी जिनकी वन्दना करते हैं, जो भक्तोंकी इच्छाके अनुसार परम सुन्दर और चिन्तन करनेयोग्य लीला-शरीर धारण करते हैं, जिनकी शक्ति अचिन्त्य है तथा जिनके अभिप्रायको उनकी कृपाके बिना कोई भाँप भी नहीं सकता, उन श्रीकृष्ण-चरणारविन्दोंके सिवा जीवके लिये कोई दूसरी गति नहीं दीख पड़ती।

(आचार्य निम्बार्कः दशश्लोकी ८)

श्रीश्रीमाँ आनन्दमयीकी सुधामयी वाणी

मनुष्य स्वाधीन गतिके अभावसे कर्म-क्षेत्रमें पङ्गु हो जाता है। धर्म-क्षेत्रमें भी यही बात होती है। अपनी-अपनी चिन्ताओंको प्रसार न मिलनेसे साधककी साधन-चेष्टा संकुचित हो जाती है। अतएव जो जिस मार्गपर अग्रसर हो रहा है, उसी मार्गमें शुद्ध-भावकी परिपुष्टि लाभ करनेके लिये अपने-अपने पुरुषार्थका प्रयोग करें। जब लक्ष्य प्राणमय हो जायगा, तब जिसको जो चाहिये, आप-से-आप हो जायगा।

× × ×

आकृष्ट होनेका अर्थ है—परिवर्तन होना। तुम जब कभी किसी मनुष्य, किसी वस्तु या भावके प्रति आकृष्ट होते हो, तभी तुम्हें अपना कुछ त्याग करना पड़ता है। यह स्वतः सिद्ध है कि जितना त्याग करोगे, उतना ही पाओगे। यह कभी नहीं हो सकता कि कुछ भी त्याग न करो और सब पा जाओ। कारण, एक समय और एक ही स्थानमें दो वस्तुएँ नहीं रह सकतीं और त्यागके बिना कोई भी कर्म नहीं चलता। भगवान्‌के भावमें मन-प्राणको जितना अधिक लगाओगे, भोग-वासनाएँ उसी परिमाणमें कम होती जायँगी; और जिस समय उनमें आकृष्ट, परिवर्तित और अनुभावित हो जाओगे, उसी क्षण मनका लय हो जायगा। यह ठीक है कि उनका आकर्षण अन्तरमें जाग्रत् न होनेसे आकर्षित हुआ नहीं जाता, तो भी उस अनुभूतिके लिये दृढ़ चेष्टाकी आवश्यकता है। इसीलिये व्यापारियोंके दैनिक बाजार-भाव जाननेकी तरह प्रतिक्षण उसके सम्बन्धमें आलोचना करनी चाहिये।

× × ×

सीमाके अंदर एक भावको लेकर रहनेसे जब लक्ष्य स्थिर हो जाता है, तब सीमाका बन्धन खुल जाता है और एक ही अनेक और अनेक ही एक प्रतीत होता है। असीम-तक पहुँचनेकी शक्ति प्राप्त करनेके लिये पहले सीमाबद्ध होकर चलना उचित है; जबतक देहात्मज्ञान प्रबल है, तबतक अपनेको आचार-विचार अथवा लौकिक नियमोंके बन्धनमें रखना ही उचित है। इसके लिये धैर्य चाहिये, सहिष्णुता चाहिये। विश्व-प्रकृति स्वयं अस्थिरा होनेपर भी कभी भी किसीकी चञ्चलतामें सहायक नहीं होती।

× × ×

भव-यन्त्रणाके बिना भव-यन्त्रके यन्त्रीके साथ परिचयकी इच्छा जाग्रत् नहीं होती। अतएव रोग, शोक, अभाव, अनुताप इत्यादि मनुष्य-जीवनके लिये आवश्यक हैं। जिस प्रकार अग्नि मैले इत्यादिको जला देती है, उसी प्रकार त्रितापद्वारा हृदयकी मलिनता नष्ट होती है और भगवान्‌के प्रति एकाग्रता होती है। हृदयमें जब अपनी दुर्बलता और उच्छृङ्खलता इत्यादिके स्मरणसे व्यथा होती है तथा पीड़ा, दारिद्र्य, स्त्री-पुत्रके वियोग, अपमान इत्यादिके कारण जीवित रहना व्यर्थ प्रतीत होता है, तभी विश्वास और श्रद्धासे मनुष्य भगवान्‌के चरणोंमें आत्म-निवेदन करनेको व्याकुल हो उठता है। इसी कारणसे दुःखको स्वीकार करो। ग्रीष्मके तापसे दग्ध चित्तको चन्द्रकिरणें जितनी मधुर लगती हैं, अन्य किसी भी समय वैसी प्रतीत नहीं होतीं।

× × ×

तुम कहते हो कि 'हम भगवत्-लाभ चाहते हैं।' विचार कर देखो—क्या तुम मन-प्राणसे चाहते हो? वास्तवमें यदि तुम चाहो तो उसे अवश्य पा सकते हो। उन्हें चाहने-का क्या लक्षण है, जानते हो? जैसे डूबनेवाली नावका यात्री किनारा चाहता है, पुत्र-शोकातुर माता पुत्रको चाहती है, उसी भावसे यदि तुम भगवान्‌को चाहो, तब देखो कि वे दिन-रात तुम्हारे साथ-साथ हैं। तुम उनसे संसारकी अनेक वस्तुएँ चाहते हो, इसीलिये वे तुमको धन-जन, प्रतिष्ठा इत्यादि देकर भुलाकर रखते हैं। उनको उन्हींके लिये चाहो, निश्चय ही उनका दर्शन-लाभ करोगे।

× × ×

संसारमें अश्रद्धा एवं उपेक्षाकी कोई वस्तु नहीं है। वे भगवान् ही अनन्त भावों और अनन्त रूपोंसे अनन्त खेल खेलते हैं। बहुत न होनेसे यह खेल कैसे चले? देखते नहीं, प्रकाश और अन्धकार, सुख और दुःख, अग्नि और जल किस प्रकार एक ही शृङ्खलमें बँधे हुए हैं। याद रक्खो, शुद्ध भावके साथ साधना होती है। हम जितना ही अशुभ तथा संकीर्ण चिन्ताओंको आश्रय देते हैं, उतने ही हम संसारके अमङ्गलके कारण सृजन करते हैं। दूसरेका क्या है, क्या नहीं है—तुम्हें इस विचारसे क्या मतलब; स्वयं ही

तैयार रहो। स्वयं सुन्दर होकर सुन्दर हृदय-आसनमें चिर-सुन्दरको यदि प्रतिष्ठित कर सको तो सब ही सुन्दर प्रतीत होगा।

× × ×

संसारमें सब एक ही पिताकी सृष्टि है। इस कारण कोई भी किसीसे भिन्न नहीं है। जिस प्रकार एक परिवारमें बहुत-से बच्चे होनेपर जीवन-निर्वाहकी सुविधाके लिये दसियों प्रकारकी वृत्तिका अवलम्बन कर दस जगह दस घर बनाकर वे लोग रहते हैं, वैसे ही मूलरूपमें एक होते हुए भी सब लोग विभिन्न कर्म-शृङ्खलाके वशमें होकर केवलमात्र कई प्रकारसे कई रूपोंमें अलग-अलग होकर रहते हैं। संसारमें जिस तरह रोग-निवारणके लिये ऐलोपैथिक, होमियोपैथिक, वैद्यक इत्यादि व्यवस्थाएँ हैं—जिसको जो उपयोगी लगती है, वह उसी चिकित्साको करता है, उसी प्रकार भव-रोगके लिये शास्त्र-वाक्यों और साधु-मुखसे नाना विधान, नाना उपदेश कहे गये हैं; लक्ष्य सबका एक ही है। हिंदू, मुसलमान, शाक्त एवं वैष्णवोंके विभिन्न मार्ग उसीके द्वारमें पहुँचाते हैं।

× × ×

ऐसा प्रतीत होता है कि यह संसार मृदङ्गकी तरह है और इसका एक वादक है। वह जो बोल बजाता है, वही बजता है। देखा गया है कि कीर्तनमें मृदङ्गकी तालोंपर बहुत लोग नाचते हैं, गाते हैं। किंतु वाद्य-यन्त्र और वादकके प्रति कम जनोंकी दृष्टि रहती है। संसारमें जिसके आनन्दका कणमात्र लेकर सभी सुखसे दिन विताते हैं, उसको जाननेके लिये कोई उत्सुक नहीं। सब विषयोंके मूलरूपमें जो विद्यमान है, उसका अनुसंधान करो; यही है तपस्या, यही है साधना।

× × ×

'भगवान्‌का भजन करना चाहता हूँ, किंतु कर नहीं पाता'—क्या इतना कहना पर्याप्त है? घरमें यदि साधारण बीमारी हो तो समय-असमय डाक्टर और वैद्योंके यहाँ कितने चक्कर लगाते हो? यदि कोई सांसारिक कार्य बिगड़ जाता है तो उसे ठीक करनेके लिये कितने यत्न करते हो, परंतु जैसे ही ईश्वर-भजन (चिन्ता) का प्रश्न आया कि उसकी कृपाकी दुहाई देकर एक ओर हो जाते हो। कर्मियोंके लिये क्या यह उचित है? एक बार उत्साहके साथ लाग उठो, फिर खूब स्मरण कर सकोगे। अपने शरीरको स्वस्थ-सुन्दर बनानेके लिये जिस तरहसे यत्न करते हो, उसी तरह मनको भजनके लिये तैयार करनेकी व्यवस्था करो; फिर देखना, भजनका भाव मनमें अवश्य ही आयेगा। केवल तत्त्वको लेकर बैठे रहनेसे काम नहीं चल सकता, उसीके अनुसार कर्म और अभ्यास भी करना चाहिये। एक लक्ष्य होकर कर्म करते-करते कर्म-सिद्धिका कौशल स्वयं विदित हो जाता है।

× × ×

मनमें चाञ्चल्य, अस्थिरता, संशय आदि अनेक दोष क्यों न रहें, आनन्द ही इसकी मूल प्रकृति है; मन तो केवल शिशुकी तरह बिना विचारे जहाँ-तहाँ, अच्छे-बुरेमें आनन्द ही ढूँढ़ता है; किंतु संसारके प्रत्येक आनन्दके छोटे-छोटे खण्ड मनको अधिक समयतक स्थिर नहीं रख सकते। जैसे बच्चोंको प्यार और ताड़ना—दोनोंसे ही शिक्षा दी जाती है, उसी प्रकार मनको भी तैयार करो। सत्सङ्ग, शुद्धभाव, सदालोचना इत्यादिद्वारा मनको बाहर-भीतर पुष्ट करो। इससे क्रमशः यह ताप-शून्य होकर परमपदमें विश्रामलाभ करनेके योग्य होगा। जैसे युद्धक्षेत्रमें आक्रमण करनेकी अपेक्षा आत्मरक्षाका सबसे पहले आयोजन किया जाता है, उसी प्रकार शुभ-कर्मादिसे मनको विवेक और विचारपूर्वक सावधान रक्खो, जिससे भोग-तृष्णारूपी बाहरी शत्रु इसको चञ्चल न कर सकें। मनका शत्रु और मित्र मन ही है। मनसे मनकी अज्ञानता दूर करनी होगी। मनको निर्मल करनेका सबसे सरल उपाय साधु-सङ्ग और निरन्तर भगवन्नामकीर्तन है।

× × ×

पुकार तो केवल एक ही है। उसी पुकारके लिये नाना जातियोंमें नाना व्यवस्थाएँ हैं। जिस दिन किसीको वैसा पुकारना आ जाता है, उस दिन उसके लिये पुकारने या न पुकारनेका छन्द मिल जाता है। वास्तवमें तुम उसे पुकारते नहीं हो, वही सर्वदा तुम्हें पुकार रहा है। जिस प्रकार निःस्तब्ध रात्रिमें देव-मन्दिरके शङ्ख-घण्टोंकी ध्वनि स्पष्टरूपसे सुनायी देती है, उसी तरह उसके प्रति अनन्य भाव-भक्तिके द्वारा विषय-विक्षुब्धता शान्त होनेसे उस पुकारकी प्रतिध्वनि आकर पूर्णरूपसे अन्तर्नादित होती है। तभी वास्तविक पुकार निकलती है। ऐसी बात सभीको होगी; क्योंकि जब शिव जीवरूपमें परिणत हुए हैं, तब जीव भी फिर शिवरूपमें

परिवर्तित होगा। बर्फ और जलकी तरह जीव और शिवका यह खेल सदासे चला आ रहा है।

× × ×

आदि सबका एक है; एकसे ही इस विश्व-ब्रह्माण्डका प्रकाश है। हिमालय जिसने देखा नहीं है, वह नाम सुनकर समझेगा कि हिमालय केवल एक पहाड़ है; किंतु हिमालयके नीचे खड़े होकर देखोगे कि सैकड़ों पहाड़, लाखों पेड़, जीव-जन्तु और झरने इत्यादिको लेकर कितने ही योजनके विस्तारमें यह गिरिराज हिमालय विराज रहा है। इसी तरह साधनाके राज्यमें जो साध्यके समीप पहुँचेगा, जो जितना उस राज्यके भीतर प्रवेश कर सकेगा, वह देखेगा कि एकके ही अनेक रूप हैं और अनेकोंका एक रूप है। हम सर्वदा एकको ही लेकर चलते हैं, किंतु अनेकोंमें भटकते रहते हैं। एक-एक पाँव चलकर सीखनेसे चलना आता है, एक-एक ग्रास खानेसे क्षुधा निवृत्त होती है, एक-एक अक्षरकी योजना करनेसे शब्द बनता है, एक-एक दिनकी गणना करनेसे मास एवं एक-एक मास वर्षमें परिणत हो जाता है।

× × ×

तुम्हारे मुँहसे सुना जाता है—'एकमेवाद्वितीयम्।' वास्तवमें बात ऐसी ही है; संसारमें एकसे भिन्न कुछ नहीं है। रूप-रस-गन्धादिको लेकर ही संसार है; इनमेंसे प्रत्येक विविध रूपोंमें प्रकाशित होकर सृष्टिकी महिमाको प्रकट करता है, किंतु एकसे ही इन सबका आविर्भाव और एकमें ही लय एवं एककी पूर्णताके लिये ही सबकी सार्थकता है। एकलक्ष्य होकर एक रूप, एक रस, एक गन्ध, एक स्पर्श अथवा एक शब्दमें प्रतिष्ठित होनेकी चेष्टा करो। उस समय देखोगे कि इसी एकके भीतर सब सम्मिलित हैं। इसीके बाद उपलब्धि होगी—एक ही सब है, सभी एक हैं एवं उस एकके अतिरिक्त और कोई अस्तित्व ही नहीं है।

एक महात्माका प्रसाद

[प्रभु-विश्वास और लक्ष्यकी प्राप्ति]

पराधीनता, नीरसता एवं अभावमें आबद्ध प्राणी सदैव सुखकी दासता एवं दुःखके भयमें आबद्ध रहता है और ऊँच-नीच योनियोंमें भटकता रहता है। इस समस्याका भान तभी हो सकता है, जब साधक वेदवाणी, गुरुवाणी, भक्तवाणी आदिके द्वारा अनुत्पन्न, अविनाशी, स्वाधीन रसरूप प्यारे प्रभुके अस्तित्वको स्वीकार करे। प्रभुके अस्तित्वको स्वीकार करनेपर फिर किसी औरके अस्तित्वकी अपनेको अपने लिये अपेक्षा ही नहीं रहती। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त सब ओरसे स्वतः विमुख होकर अपनेमें जो अपने प्रेमास्पद हैं, उनमें लग जाता है। जीवन-विज्ञानसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि जबतक चित्त प्रभुसे भिन्न किसी औरमें लगता है, तबतक उसका अस्तित्व बना रहता है और वह स्वभावसे स्थिर नहीं होता, अर्थात् मनमें स्थिरता, चित्तमें प्रसन्नता और हृदयमें निर्भयताकी अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना साधक शान्ति, मुक्ति और भक्तिका अधिकारी नहीं हो पाता। इस दृष्टिसे चित्तका सब ओरसे विमुख होकर अपनेमें जो अपना जीवन है, उससे अभिन्न होना अनिवार्य है। इसी पवित्रतम उद्देश्यकी पूर्तिके लिये आस्थावान् साधकोंने सर्वसमर्थ प्रभुके अस्तित्व, महत्त्व और अपनत्वको स्वीकार किया। मानव जिसके अस्तित्वको स्वीकार करता है, उसका चिन्तन उसमें स्वतः होने लगता है। अतएव जिसके चिन्तनसे अपनेको मुक्त होना है, उसके अस्तित्वको ही स्वीकार मत करो। केवल प्रतीति एवं प्रवृत्तिके आधारपर अस्तित्वको स्वीकार करना भारी भूल है। जिसकी प्राप्ति सम्भव है, भले ही उसकी प्रतीति न हो, उसके अस्तित्वको स्वीकार करना अनिवार्य है। प्राप्ति उसीकी होती है जो सदैव अपनेमें है—और वह अपना है। उसीमें सहजभावसे प्रियता होती है। जो अपनेमें है, साधक उससे अपनी भूलसे ही विमुख होता है और फिर प्रवृत्तिद्वारा अपनेको शक्तिहीन ही बनाता है। श्रमसे शक्तिका ह्रास होता है, यह जीवनका विज्ञान है।

श्रमका आरम्भ ही तब होता है, जब मानव अपनेमें अपने जीवन तथा जीवन-धनको स्वीकार ही नहीं

करता। यदि कोई यह कहे कि 'जो सदैव अपने अंदर है, उसे स्वीकार करनेकी क्या बात है', तो यह देखना चाहिये कि जो अपना नहीं है, अपनेमें नहीं है, सदैव नहीं है, केवल प्रतीतिमात्र है, उसके अस्तित्व-को अस्वीकार करनेके लिये अपनेमें अपने प्यारे प्रभुको स्वीकार करना अनिवार्य होता है। इसपर भी यदि कोई प्रभुको स्वीकार किये बिना, जिसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं है, उसे स्वीकार न करे तो भी साधक अपने-में अपने साध्यको पा जाता है। संसारकी निवृत्तिसे परमात्माकी प्राप्ति और परमात्माकी प्राप्तिसे संसारकी निवृत्ति अपने-आप होती है। जिस अनन्तसे समस्त स्वीकृतियाँ सिद्ध होती हैं, वह वास्तवमें सभीका अपना है, अपनेमें है, अभी है।

इस वास्तविकतामें अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास अत्यन्त आवश्यक है। प्रभु-विश्वास प्रभु-प्राप्तिका अचूक उपाय है। अन्य विश्वासने ही साधकको अन्य चिन्तन-में आबद्ध कर अपने प्यारे प्रभुसे विमुख कर दिया है। अन्य विश्वासके त्यागसे प्रभु-विश्वास सजीव होता है, जिसके होते ही आत्मीयताकी अभिव्यक्ति होती है, जो अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियताकी जननी है।

अभावमें आबद्ध रहना किसीको अभीष्ट नहीं है। अपनेमें अपने प्रेमास्पदको स्वीकार करनेमात्रसे स्वतः अभावका अभाव हो जाता है, जिसके होते ही किसी प्रकारकी पराधीनता, जडता एवं नीरसता शेष नहीं रहती—अर्थात् अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप, चिन्मय जीवनसे अभिन्नता हो जाती है। यह शरणागत साधकोंका अनुभव है। जो अपनेमें हैं, अपने हैं, अभी हैं, वे ही वास्तवमें हैं। अपनेमें अपने प्रेमास्पद मौजूद हैं, उन्हींको अपना मानना अनिवार्य है। जिसका सदैव कोई अपना है, उसीमें प्रियताकी अभिव्यक्ति स्वतः होती है। प्रियतासे ही प्रियतमको रस मिलता है। अतः सोयी हुई प्रियताको जगानेके लिये बिना देखे, भक्तवाणीके आधारपर, प्रभुके साथ आत्मीय-सम्बन्ध स्वीकार करना अनिवार्य है।

आत्मीय-सम्बन्धसे ही नित्य-नवीन प्रियताकी अभिव्यक्ति होगी। प्रियता प्रियतमके समान ही अविनाशी, अनन्त, चिन्मय तत्त्व है; कारण कि प्रीति और प्रियतम-में जातीय भिन्नता नहीं है। इतना ही नहीं, प्रेमी और प्रेमास्पदका नित्य विहार ही भक्ति-तत्त्व है, जिसकी प्राप्ति जो जीवनका एकमात्र सत्य है, अर्थात् अपना प्रेमास्पद सदैव अपनेमें मौजूद है, उसे स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। अपनेसे भिन्न जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह कभी भी अपना नहीं है, अपने लिये नहीं है—इस सिद्धान्तको अपनाकर जो अपनेमें अपना है, उसीके लिये अपनेको समर्पित कर सदाके लिये उसीका हो जाना अपना जीवन है। जो अपना जीवन है, वही अनन्तका स्वभाव है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब प्रभु-विश्वासी साधक अचाह एवं अप्रयत्न होकर सदाके लिये शरणागत हो जाय। शरणागति कोई अभ्यास नहीं है, अपितु विश्वास है। निज ज्ञानसे असङ्गता और आस्था, श्रद्धा एवं विश्वासके साथ आत्मीयता स्वीकार करना रसरूप जीवनकी प्राप्ति-का अचूक उपाय है। यदि अपना प्रिय अपनेको प्रिय नहीं हो सकता तो प्रियता-प्राप्तिका और कोई उपाय हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार निर्ममताके बिना निर्विकारता एवं निष्कामताके बिना चिर-शान्ति तथा असङ्गताके बिना जीवन्मुक्ति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार आस्था, श्रद्धा एवं विश्वासके साथ आत्मीयताके बिना अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता सम्भव नहीं है, इस दृष्टिसे जो साधक शीघ्रातिशीघ्र वर्तमानमें ही पराधीनता, नीरसता एवं अभावका अन्त करना चाहते हैं, वे आस्था, श्रद्धा एवं विश्वासके साथ अपनेमें अपने प्रेमास्पदको स्वीकारकर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जायँ। सफलता अवश्यम्भावी है।

त्यागका महत्त्व

[पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश]

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी ऐडवोकेट)

त्यागका तो सीधा अर्थ है—छोड़ना या नहीं करना; लेकिन हमारे जीवनमें इस त्यागका क्या महत्त्व है, यह सचमुच एक विचारणीय प्रश्न है। यह संसार निश्चय ही एक कर्मभूमि है, जहाँ हम केवल काम करनेके लिये भेजे गये हैं और यहाँ आनेपर हमें क्या करना है और क्या नहीं करना है—इसका हमारे शास्त्रोंमें असंदिग्ध विवेचन है। निषिद्ध कर्मोंको न करनेकी जो आज्ञा है, उसीका हम यदि ठीक-ठीक पालन कर लें और इसी एक आदेशको जीवनमें ठीक-ठीक उतार लें तो निस्संदेह थोड़े ही समयमें हम महान् और यशस्वी हो जायँ। मान लीजिये—कोई विद्यार्थी है, जिसको यह आदेश है कि 'तुम अपना समय व्यर्थ मत गँवाओ' और यदि उस विद्यार्थीने इस आदेशका ठीक-ठीक पालन किया तो परिणामतः उसका समय सम्यक् प्रकारसे पठन-पाठनमें लगेगा और अल्प समयमें ही वह विद्या प्राप्त करनेके साथ-साथ अपना यश भी प्राप्त कर लेगा। पुनः कल्पना कीजिये, कोई राज्यकर्मचारी है, जिसे यह आदेश है कि वह किसी भी व्यक्तिके साथ दुर्व्यवहार न करे और न किसीसे घूस आदि ले। यदि उक्त राज्यकर्मचारीने तद्वत् आचरण किया और न करनेयोग्य कोई कर्म नहीं किया तो उसके लिये भी यह सम्भव है कि वह यथावत् पदोन्नति प्राप्त करता जाय और जनसाधारणमें उसकी विशेष मान्यता हो जाय; इसी प्रकार समाजके प्रत्येक व्यक्तिके लिये कुछ-न-कुछ निषिद्ध कर्म अवश्य हैं। यदि उन निषिद्ध कर्मोंको ही वह छोड़ दे तो उसका परिणाम यह होगा कि उसके द्वारा विहित कर्म स्वयं होते जायँगे। विहित कर्म तो उसने जानकर किये नहीं, केवल न करनेयोग्य कर्मोंको न करनेके व्रतका उसने पालन किया और इसके फलस्वरूप उससे अनायास ही शुभ कर्म होते गये तो परिणाम सुखद होगा ही।

लेकिन इस प्रकार कर्तव्य कर्म करनेपर भी सम्भव है किसी त्रुटिके कारण उसकी विफलता हो जाय, जिससे मनमें विषाद हो अथवा सफलता मिलनेपर मनमें अभिमान पैदा हो जाय या उक्त कर्ममें ही उसे एक प्रकारकी आसक्तिका अनुभव होने लगे, तो इन सारी बातोंपर हमारे ऋषियोंने अति प्राचीन कालमें विचार किया है। ईशोपनिषद्का प्रथम मन्त्र है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी यह जड-चेतनात्मक जगत् है, वह सब-का-सब परमपिता परमेश्वरसे व्याप्त है और उन्हींसे परिपूर्ण है—यह समझकर उन परमेश्वरको निरन्तर अपने साथ रखते हुए त्यागभावसे कर्तव्य-पालनके लिये ही विषयोंका यथाविधि उपभोग करो, उनमें आसक्त मत होओ। यथार्थमें ये भोग्य पदार्थ किसीके भी नहीं हैं। मनुष्य भूलकर उसमें ममता या आसक्ति करता है।' इस त्यागका उपदेश अति प्राचीन कालमें हमारे ऋषियोंने दिया था।

गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश है—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥
(४। २०)

'जो व्यक्ति सदा संतुष्ट रहकर बिना किसी आसक्तिके कर्म करता है, वह कर्म करते हुए भी वास्तवमें कर्म नहीं करता।' हमारी संस्कृतिमें कर्म करनेका यही आदर्श है। पुनः भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥
(१८। ११)

'किसी भी देहधारी पुरुषद्वारा सम्पूर्णतासे सारे कर्म त्यागे नहीं जा सकते। इसलिये जो पुरुष कर्मोंके

फलका त्याग करता है, वही त्यागी है। इसीको कर्म-योग कहते हैं।'

भगवान् पुनः कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(गीता २। ४८)

"हे अर्जुन! तुम आसक्तिका त्याग करके, हानि-लाभ, विजय-पराजय, सिद्धि-असिद्धिका विचार न करते हुए कर्म करो। समत्व ही 'योग' कहा जाता है।" लेकिन प्रायः लोग यह सोचते हैं कि 'जब कर्मोंके प्रति इतनी उपेक्षाका आदेश हमारे धर्मशास्त्रोंमें है, तब कर्म करनेकी आवश्यकता ही क्या है? न हम कर्म करेंगे और न आसक्ति या ममता होगी, न हानि होगी और न लाभ ही होगा।' इसपर हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं कि 'इस संसारमें बिना कर्म किये हम रह ही नहीं सकते। कर्म करना हमारे लिये अनिवार्य है।' शास्त्र पुनः आज्ञा करते हैं—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

'इस संसारमें कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करनी चाहिये। इसके सिवा दूसरा कोई उपाय हमारे लिये नहीं है।' प्रकटमें जब हम सो रहे होते हैं, हमारा शरीर स्थिर है, कोई भी काम इन अपनी इन्द्रियोंद्वारा नहीं कर रहे हैं; किंतु हमारा यह सोना भी एक आवश्यक कर्म है और इस सोनेको भी क्रिया बतलाया गया है। भाव यह कि जब हम बिना कर्म किये यहाँ रह ही नहीं सकते, तब हमारे लिये त्यागकी वस्तु रह जाती है केवल आलस्य। अपने लिये विहित कर्मोंके करनेमें हमें कभी आलस्य नहीं करना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि आलस्यवश हम बहुत-से अच्छे-अच्छे काम नहीं कर पाते और इस प्रकार हम अपने जीवनके अल्प क्षण नष्ट करते रहते हैं। अतएव वासनाओंके त्यागके साथ-साथ हमें आलस्यका भी त्याग करना चाहिये।

इस त्यागके विषयमें भगवान् श्रीकृष्ण अपनी गीतामें कहते हैं—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥
(१८। ४)

'हे अर्जुन! मेरे विचारमें यह त्याग तीन प्रकारका है—सात्त्विक, राजस और तामस।' तामस त्याग क्या है, पहले इसीपर विचार कीजिये। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि "मोहसे जो लोग अपने स्वाभाविक या वर्णाश्रमोचित कर्मका त्याग करते हैं, वह उनका 'तामसिक त्याग' है।" वर्णाश्रम-धर्मानुसार प्रत्येक व्यक्तिके लिये अलग-अलग कर्म निर्धारित हैं, जिनको 'सहज कर्म' कहते हैं। यदि उसमें दोष भी हो तो उसका त्याग नहीं करना चाहिये—

'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।'
(१८। ४८)

राजस त्याग क्या है, इसके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जो अपने लिये विहित कर्म है, क्लेशादिके भयसे या बोझ समझकर जो उस कर्मको नहीं करते, उनका वह त्याग राजसी है। और जो लोग यह समझकर कि हमें यह कर्म करना ही है—इस दृष्टिसे अपना कर्त्तव्य समझकर श्रद्धादिके साथ केवल आसक्ति त्यागकर कर्म करते हैं, फलादिकी परवा नहीं करते, ऐसे लोगोंका सात्त्विक वह त्याग है।'

इस प्रकार हमारे यहाँ त्यागकी बड़ी महिमा है। अपने-अपने कर्त्तव्यमें जो भी त्याज्य बातें बतलायी गयी हैं, उन्हींको हम यदि त्याग दें तो बाकी जो भी काम हम करेंगे, वह अवश्य ही सुन्दर और मर्यादानुकूल होगा और भविष्यमें हम अपने जीवनमें त्यागको एक साधन बनाकर सुख-समृद्धि-लाभ और भगवत्प्राप्तितक कर सकते हैं—इसमें तनिक भी संदेह नहीं मानना चाहिये।

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत वचन]

गृह, सम्पत्ति तथा सम्बन्धियोंके साथ भगवान्‌के नाते सम्बन्ध रखिये

सूर्योदयसे पूर्व जैसे उषाकी लाली उसके आनेकी सूचना देती है, उसी प्रकार भोगोंके प्रति उदासीनता प्रभुकृपाके आविर्भावका ही पूर्वसंकेत है; इसलिये आपके हृदयमें सांसारिक भोगोंकी ओरसे जो निर्वेद है, वह तो प्रभुकी परम कृपा ही है। परंतु प्रभुकी पूर्ण कृपाका अनुभव तबतक नहीं होता, जबतक जीवके अन्तःकरणका सारा मल निर्वेदकी ज्वालामें जल नहीं जाता। पर जलन जरूर ही मनको अच्छी नहीं लगती। इसके कारण चित्तमें एक प्रकारका विक्षेप, अशान्ति और निराशा-सी भी बनी रहती है। परंतु ऐसा हुए बिना मनका मैल भी तो नहीं जलता। जिस दिन मन निर्मल हो जाता है, उस दिन प्रभु स्वयं ही प्रेम-दान कर देते हैं। परंतु प्रेमीकी प्यास कभी शान्त नहीं होती। हाँ, उस प्यास और इस अशान्तिमें अन्तर अवश्य है। इस समय तो मन विस्मृति होनेपर इधर-उधर भटकता है, परंतु तब स्मृति-विस्मृति—दोनों ही भगवन्मयी होती हैं। हाँ, स्मृतिमें प्यारा आँखोंके सामने रहता है और विस्मृतिमें आँखें उसीको ढूँढती रहती हैं—इतना अन्तर अवश्य होता है। इस लुका-छिपीमें भी चित्त अनेकों बार विषादमें डूबता है, परंतु वे निराशा और विषाद भी परम आनन्दमय होते हैं; क्योंकि वे भी प्रेमकी ही एक अवस्थाविशेष हैं।

अतः आप जिस तपनमें तप रहे हैं, उससे घबराइये मत। दूने उत्साहसे प्रभुका स्मरण कीजिये। सब काम करते हुए भी निरन्तर नामजप और उनका चिन्तन करते रहें। बच्चे और घर भी उन्हींकी सम्पत्ति हैं। जब सारा संसार उन्हींका है तब ये क्या उससे बाहर हैं? इन्हें उन्हींकी चीज समझकर प्रेमपूर्वक इनकी देखभाल कीजिये। इन्हें छोड़ देनेपर भी आपकी आँखोंके सामने कुछ पुरुष, स्त्रियाँ, बच्चे और गृह आदि आयेंगे ही। केवल ममता न होनेसे ही आप उनके कारण अपने लिये कोई बाधा नहीं समझेंगे। उसी प्रकार आज इन गृह, सम्पत्ति और सम्बन्धियोंसे भी ममताके नाते नहीं, बल्कि भगवान्‌की वस्तुके नाते सम्बन्ध रखिये और उनकी यथोचित देखभाल और सेवा कीजिये। यों करनेसे आपका प्रभु-चिन्तन अखण्ड हो जायगा और फिर प्रभु-कृपाका अनुभव होनेमें भी देर नहीं लगेगी। परंतु यह सब होते हुए भी प्यारे श्यामसुन्दरके नाम और रूपका चिन्तन हर समय होते रहना चाहिये।

और अधिक क्या लिखूँ। भगवान् आपको जल्दी-से-जल्दी अपना प्रेमदान करें, यह मेरी आन्तरिक अभिलाषा है।

भगवान्‌को पानेके लिये जैसी स्थितिमें रहना पड़े, उसीमें रहिये

जीवनमें हँसने-खेलनेकी और गम्भीर रहनेकी—दोनों ही बातोंकी आवश्यकता है। दोनोंसे ही प्रत्येक जीवका पाला भी पड़ता है। जो लोग हँसने-खेलने और मौज उड़ानेको ही सार समझते हैं, उन्हें जब विपत्तिका सामना करना पड़ता है, तब उदास होना ही पड़ता है और जो जीवनकी गुत्थीको सुलझानेकी समस्या लेकर सर्वदा गम्भीर रहते हैं, उन्हें भी कभी-कभी दैवकी अटपटी चालपर हँसी

आती है। असलमें जीवनका लक्ष्य हँसना-खेलना या उदासीन रहना—इन दोनोंमेंसे कोई नहीं है। जीवनका लक्ष्य है—भगवान्‌को पाना। उन्हें पानेके लिये जैसी स्थितिमें रहना पड़े, उसीमें रहना अच्छा है।

सदा-सर्वत्र भगवान्‌को देखना चाहिये

संसारमें जहाँ-जहाँ मन दौड़कर जाय, वहाँ-वहाँ ही श्रीभगवान्‌को देखना चाहिये। मनसे कह देना चाहिये कि या तो तुम बिना भटके श्रीभगवान्‌के मधुर दिव्य स्वरूपमें तथा उनके लीला-गुण-नामकी स्मृतिमें ही निरन्तर अटके रहो या फिर जहाँ-कहीं भी जाओ, वहीं आगे-से-आगे मिलेंगे तुम्हें मेरे प्रभु ही; क्योंकि वे ही सर्वत्र-सदा हैं। तुम उनको छोड़कर जाओगे कहाँ ?

सखीभावसे भजन करना बहुत बड़े अधिकारकी बात है

सखीभावका एक रूप है—भगवान्‌की स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति श्रीसीताजी-श्रीराधाजी प्रभृति दिव्य भगवत्स्वरूपा भगवत्प्रेममयी महारानियोंकी अपनेको सखी समझकर भगवान्‌को भजना। यह बहुत ही ऊँचा भाव है। इसमें अपने लिये कहीं किसी भी कामनाका लेश नहीं है। बस, प्रिया-प्रियतमके मिलनेमें ही इनको सुख मिलता है! और उनकी मिलन-लीलामें सहायक होना ही इनका एकमात्र कर्तव्य है। यह भाव व्रजकी महामहिमामयी कतिपय गोपदेवियोंमें था, जिसके कारण वे प्रेममार्गकी आचार्यरूपा मानी जाती हैं। सखीभावके और भी कितने ही स्वरूप महाभाग भक्तोंने माने हैं। परंतु इतना खयाल रहे कि सखीभावमें सर्वत्र समर्पण, इन्द्रिय-सुखका सर्वथा त्याग और श्रीकृष्ण (भगवान्) में सर्वथा भगवद्भावका निश्चय अवश्य होना चाहिये। यह भाव बहुत ही श्रेष्ठ है। इस भावका साधक जगत्‌के समस्त पदार्थोंको अपने इष्टदेवके प्रति समर्पण कर देता है और उसका उपभोग अपनी इन्द्रिय-तृप्तिके लिये न करके भगवान्‌की सेवाके लिये करता है। संसारसे पूर्ण विराग होनेपर ही इस भावकी साधना सम्भव है। इसमें लहँगे, साड़ी या चूड़ी-जूड़ाकी जरूरत नहीं है; जरूरत है समर्पणपूर्ण सखीभावकी। सखीभावसे भगवान्‌का भजन करनेवाला पुरुष भोजन करनेकी भाँति ही, शास्त्रसे अविरुद्ध अन्यान्य आवश्यक विषयोंका ग्रहण भी करता है; परंतु उसका लक्ष्य इन्द्रिय-सुख-भोग कदापि नहीं रहना चाहिये। वह तो अपनेको स्वयं श्रीभगवान्‌का 'भोग्य' बना चुका रहता है; फिर वह 'भोक्ता' किसका और कैसे होगा? उसके लिये तो जगत्‌में एकमात्र श्रीराम या श्रीकृष्ण ही भोक्ता—पुरुष हैं, उनके अतिरिक्त सभी कुछ भोग्य—प्रकृति है। भोग्य भोगका भोग क्या करेगा? कहनेका तात्पर्य यह है कि सखीभावसे भगवान्‌का भजन करना बहुत बड़े अधिकारकी बात है। सबके लिये यह भाव सम्भव नहीं है। इसलिये यदि इस भावसे कोई महानुभाव भजन करना चाहें और वैसी योग्यता उनमें न हो, तो उन्हें इस पथपर पैर नहीं रखना चाहिये।

भगवान् सदा हमारे रहेंगे ही

तुमने अपने हृदयको मलिन बताया और श्रीभगवान्‌के परम अनन्य प्रेमकी इच्छा प्रकट की, ये दोनों ही बातें आदर्श हैं। अपने हृदयकी मलिनता मनुष्यको ठीक-ठीक दिखायी देने लगे और वह सहन न हो तो भगवत्कृपासे वह सारी मलिनता धुल जा सकती है। और भगवत्प्रेमकी चाह तो अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना होती ही नहीं। सारी चाहोंको खा जाती है—भगवत्प्रेमकी चाह। और भगवान् तो—जो उनके प्रेमकी चाह करता है, उसके हाथों बिना मोल बिके रहते हैं। वे उसके सर्वथा अपने बन जाते

हैं, इसमें जरा भी संदेहकी बात नहीं है। प्रेमीको तो कभी इसमें संदेह होता भी नहीं; वह तो नित्य-निरन्तर अपने प्रभुको अपना ही मानता है, अपना ही देखता है, अपना ही अनुभव करता है। भगवान्‌ने हमको सर्वथा अपना लिया है, हम भगवान्‌के हो चुके हैं, भगवान् हमारे हैं—यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। शरीर कहीं रहे, रहे न रहे, भगवान् सदा हमारे रहेंगे ही, हमारे पास रहेंगे ही। उन्हें छोड़ना न हमारे लिये सम्भव है न वे ही हमें छोड़ सकते हैं—यह दृढ़ निश्चय रहे।

प्रभुकी प्रसन्नतामें ही सदा प्रसन्न रहना चाहिये

हमारे सबके मनोंकी बात प्रभु पूरी-पूरी जानते हैं और वे सर्वशक्तिमान् होते हुए भी हमारे परम सुहृद् भी हैं। अतएव वे वही करते हैं, जो हमारे लिये उचित तथा आवश्यक होता है। हमें उनकी कृपा तथा उनके विधानपर विश्वास करना चाहिये। प्रभु हमारे मनकी नहीं होने देते, इसका अर्थ ही है कि वे अपने मनकी करते हैं और हमें उनके मनकी प्रसन्नतामें ही सदा प्रसन्न रहना चाहिये।

अशान्तिका कारण है—भगवान्‌में विश्वासकी कमी

मनमें अशान्ति रहनेका कारण है—भगवान्‌में, उनके मङ्गलविधानमें पूर्ण विश्वासकी कमी। भगवान्‌पर पूर्ण विश्वास हो जानेपर चित्त सर्वथा शान्त और सुखमय हो जाता है, फिर उसपर किसी भी बाहरी परिस्थितिका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

भगवान् हमारी योग्यताकी ओर नहीं देखते, अपने विरदकी ओर देखते हैं

तुमने श्रीमहाप्रभु तथा उनके भक्तोंकी बात लिखी, सो उनका तो स्मरण ही हमलोगोंके लिये कल्याणप्रद है। उन-जैसी स्थिति, निष्ठा, साधना, रति-विरति ·····हमलोगोंमें कहाँ है। कभी प्रभु-कृपासे किसी अंशमें वैसी स्थिति हो जाय तो बड़े ही सौभाग्यका विषय हो। पर हम चाहे कैसे भी हों, भगवान् तो हमारे अकारण सुहृद् हैं ही, तथा उनका सौहार्द हमारी योग्यताकी अपेक्षा नहीं रखता। वह तो सहज, स्वाभाविक ही है। भगवान् हमारी ओर नहीं देखते········वे तो अपने विरदकी ओर देखा करते हैं—

'बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ॥'

प्रेमीमें तनिक भी अभिमान नहीं आना चाहिये

तुमपर भगवान्‌की सचमुच बड़ी ही कृपा है, जो तुम्हें उनकी पवित्रतम मधुर लीलाओंके चिन्तन-दर्शनका सौभाग्य प्राप्त है। भगवान्‌की इस महान् कृपाके लिये उनके सदा कृतज्ञ रहो और उनके चरणोंमें अपनेको न्योछावर करके धन्य हो जाओ। तुमने लिखा कि 'लीलामें सांसारिक दृष्टि या किंचित् विकार बिल्कुल नहीं आता' सो यह बहुत ही अच्छी बात है। इस पथके असावधान साधक यहीं गिर जाया करते हैं। मनमें तनिक भी अभिमान नहीं आना चाहिये। यही समझना चाहिये कि यह सब प्रभुकी अहैतुकी कृपाका ही सुफल है, मेरे किसी साधन या पुरुषार्थका तनिक भी नहीं; और वास्तवमें यही बात है भी।

प्रेमीके मनके तीन स्तर

तुम्हारे लीला-दर्शनका क्रम चलता होगा। प्रेम-राज्यमें जब कोई प्रेमी आगे बढ़ जाता है, तब उसके

मनमें प्रेमास्पदका मन आकर उसके मनको मिटाकर अपना एकाधिकार कर लेता है। उस अवस्थामें उसके मनमें प्रतिकूलता नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती।

प्रेमके तीन स्तर हैं—

(१) भगवान्‌का प्रत्येक विधान मङ्गलमय है। वे जो कुछ विधान करते हैं, उसीमें हमारा निश्चय ही परम मङ्गल निहित है—यह समझकर, विश्वास करके प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिके प्राप्त होनेपर उसमें मङ्गल देखना। इसमें अपने मङ्गलकी इच्छा वर्तमान है, पर भगवान्‌के विधानमें मङ्गलका विश्वास है।

(२) मङ्गल-अमङ्गलकी कोई कल्पना ही नहीं है, किंतु मनमें अनुकूलता-प्रतिकूलता है और प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिके प्राप्त होते ही वह यह तुरंत मान लेता है—'मेरे प्रेमास्पद प्रभुको इसमें सुख है, अतएव मेरे लिये यही परम सुख है।' इस प्रकार प्रतिकूलता परम सुखमें परिणत हो जाती है। परंतु प्रतिकूलता यहाँ सर्वथा मिटी नहीं है।

(३) प्रतिकूलताकी सत्ता ही नहीं है। जो कुछ भी प्राणी-पदार्थ-परिस्थिति प्राप्त होते हैं, वे ही सर्वथा अनुकूल हैं। प्रियतमका मन उसका मन बना हुआ अपनी निर्मित प्रत्येक परिस्थितिमें प्रियतमका सुख ही देखता है।

प्रेम, भाव, समर्पण श्रीश्यामसुन्दरमें ही होना चाहिये

शरीरकी कोई चिन्ता ही नहीं करनी चाहिये। यह कच्ची मिट्टीका पुतला तो एक दिन ढहनेवाला है। पीछे दुःख या धोखा न हो, इसलिये शुद्ध-सच्चिदानन्दघन-विग्रह भगवान् श्रीश्यामसुन्दरमें ही प्रेम, भाव, समर्पण होना चाहिये, किसी मानवमें नहीं। —(पुराने पत्रोंसे संगृहीत)

व्रजराज-कुँवर सौं बेगहि करि पहिचान

मूरख, छाड़ि बृथा अभिमान।
औसर बीति चल्यौ है तेरौ, दो दिन कौ मेहमान॥
भूप अनेक भए पृथिवी पर, रूप-तेज-बलवान।
कौन बच्यौ या काल ब्याल तैं, मिटि गए नाम-निसान॥
धवल-धाम, धन, गज, रथ, सेना, नारी चंद्र-समान।
अंत समै सबही कौं तजि कैं, जाय बसे समसान॥
तजि सतसंग भ्रमत बिषयन में, जा बिधि मरकट स्वान।
छिन भरि बैठि न सुमिरन कीन्हौं, जासौं होय कल्यान॥
रे मन मूढ़ ! अनत जनि भटकै, मेरौ कह्यौ अब मान।
'नारायन' व्रजराज-कुँवर सौं बेगहि करि पहिचान॥

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

जिह्वाको श्रीभगवन्नामके उच्चारणमें लगाइये

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः॥

मनुष्य-जीवनकी सार्थकता इसीमें है कि निरन्तर श्रीभगवान्‌को स्मरण किया जाय। उपर्युक्त वचन महर्षि श्रीवेदव्यासके हैं, जिनके वचन त्रिकालसत्य हैं। वे कहते हैं—"शास्त्रमें जितनी विधियाँ हैं, अर्थात् 'ऐसा करो' और जितने निषेध हैं, अर्थात् 'ऐसा नहीं करो'—सबका अन्तर्भाव, सबका पर्यवसान इसीमें है कि निरन्तर भगवान्‌को याद रक्खो और कभी भगवान्‌को मत भूलो।"

हमलोगोंने अनन्त जन्मोंमें, अनन्त बार परिवार इकट्ठे किये, अनन्त बार गृहस्थी की, अनन्त बार 'मेरा-मेरा' कहकर अनन्त प्राणियोंका मोहजाल बाँधा; किंतु किसी भी जन्ममें एक बारके लिये भी हृदयसे—सच्चे मनसे श्रीभगवान्‌को 'मेरा' कहकर नहीं पुकारा, वरण नहीं किया। यदि ऐसा किया होता तो हमारी यह दशा नहीं होती। इसलिये इस बार अब भूल न करें। हृदयकी सारी शक्ति लगाकर उनके चरणोंमें अपने आपको समर्पित करनेकी सच्ची चाह जाग्रत् करें। फिर प्रभु कृपामय हैं। वे देखेंगे कि ये सब अपनी नीयतभर बाज नहीं आ रहे हैं, इन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा दी है; इसलिये अब मैं इन्हें सँभाल लूँ। जिस दिन अन्तर्हृदयकी सच्ची चाहका प्रतिबिम्ब श्रीभगवान्‌के हृदयपर पड़ा कि उसी क्षण प्रतिक्रिया होगी, उनका संकल्प होगा और सब तत्क्षण उनके चरणोंमें पहुँच जायँगे।

अब प्रश्न है कि सच्ची चाह उत्पन्न कैसे हो? संतोंका यह अनुभव है कि मलिन मनमें ऐसी शुद्ध चाह उत्पन्न नहीं होती। इसलिये सबसे पहले मनको शुद्ध करना है। मन शुद्ध करनेका उपाय आजकलके लिये एक ही है। वह उपाय है—भगवद्भजन—भगवत्स्मरण। किंतु मलिन मन भगवद्भजनमें लग जाय, यह भी कठिन है। इसीलिये एक काम करें—जिह्वासे ही भजन करें—लेते जायँ भगवान्‌का नाम। नाममें ऐसी अपूर्व शक्ति है कि अपने आप मन लगने लगेगा। बिना श्रद्धा, बिना प्रेम केवल हठपूर्वक जिह्वाको श्रीभगवन्नामके उच्चारणमें लगाइये। मन लगे तो उत्तम है, नहीं तो कोई परवाह नहीं। यदि जिह्वाने नामका आश्रय नहीं छोड़ा तो सब कुछ अपने आप नामकी कृपासे हो जायगा। श्रीरामकृष्ण परमहंसजी महाराजने कहा है—'कोई अमृतके कुण्डमें उतरकर अमृतपान करे अथवा पैर फिसलकर गिर पड़े, अथवा किसीके ढकेल देनेपर गिर पड़े, अथवा जान-बूझकर जबरदस्ती उस कुण्डमें गिरा दिया जाय, यदि अमृतका संस्पर्श हुआ तो गिरनेवाला चाहे किसी प्रकारसे गिरा हो, अमर हो जायगा। उसी प्रकार श्रीभगवान्‌के नामके साथ सम्बन्ध किसी प्रकार भी क्यों न हो, यह सर्वथा दुःखसे छुड़ाकर अत्यन्त आनन्दमय प्रभुके चरणोंमें ले जानेवाला है।'

इसलिये पुनः-पुनः एक ही प्रार्थना है कि वाणीका संयम कर लें। विनोद करके क्या होगा। क्षणभङ्गुर जीवनमें विनोद-हँसी-मजाकका अवसर नहीं है। बहुत रास्ता तय करना है। आवश्यक काम प्रभुकी सेवा समझकर करना है, इसीलिये आवश्यकतानुसार बोलनेकी जरूरत होनेपर बोल लिया करें। ध्यान रखें कि कम-से-कम बोलकर ही काम चला लिया जाय और इसके बाद बाकी जो समय मिले, उसमें निरन्तर भगवन्नामकी ध्वनि होती रहे। धीरे-धीरे या जोर-जोरसे, जैसे भी सम्भव हो एवं सुविधासे हो।

इस बातपर बड़ी गम्भीरतासे विचार करेंगे। समय अनमोल है। जो श्वास गया, वह फिर नहीं लौटेगा। भगवन्नामके बिना गया हुआ श्वास व्यर्थ हुआ। मृत्युका ठिकाना नहीं कि कब आकर यहाँका सब खेल मिटा दे। केवल अपनी ओरसे पूरी शक्ति लगाकर भगवान्‌को पुकारनेकी जरूरत है। चाहे हमारी शक्ति कितनी भी क्षीण क्यों न हो, यदि भगवान्‌में

लगा दी जाय अर्थात् भगवान्की शक्तिसे संयुक्त कर दी जाय तो फिर उस क्षीण शक्तिकी ताकत इतनी बढ़ जाती है कि उसके द्वारा हम अपनी बुराइयोंको दूर करके सबसे दुर्लभ भगवच्चरणोंको प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये भगवत्कृपाकी डोरीको अपनी ओर खींचते रहें।

निराश होना प्रभुके प्रेमका तिरस्कार करना है

प्रभुकी बड़ी कृपा है; सच मानिये, हमलोग उनकी कृपामें स्नान कर रहे हैं, डूबे हुए हैं। फिर घबरायें क्यों? यह बात बिल्कुल याद रखनेकी है कि एक क्षणके लिये भी निराश होना, अर्थात् ऐसा सोचना कि 'मेरा क्या होगा' उनकी कृपाका—उनके अहैतुक प्रेमका तिरस्कार करना है। यह कहना हो सकता है—'मैं उन्हें प्रभु मानता तो बात ठीक थी, पर मैं तो उन्हें प्रभु ही नहीं मानता। प्रभु मानकर उनके आश्रित ही नहीं हूँ, फिर वे मुझे क्यों सँभालेंगे?' बहुत ठीक, पर उन्होंने स्वयं गीतामें कहा है—**सुहृदं सर्वभूतानाम्**—'मैं सब भूतोंका सुहृद् हूँ।' क्या हम भूतोंकी श्रेणीमें नहीं हैं? यदि वे 'भजतां **सुहृदम्**—भजन करनेवालोंके सुहृद्' होते तो हमारे लिये अवश्य ही निराशाकी बात थी; पर वे तो स्पष्ट कहते हैं कि 'मैं सब भूत-प्राणियोंका सुहृद् हूँ। केवल भजन करनेवालोंका ही नहीं।' फिर उन परम सुहृद्को, जो सर्वलोकमहेश्वर भी हैं, हमारी सुधि नहीं होगी? अवश्य होगी, ऐसा दृढ़ विश्वास करें; यह विश्वास दृढ़ हुआ कि सब साधन अपने-आप अनुकूल हो जायँगे। बिना किसी परिश्रमके उनका संयोग पाकर हम कृतार्थ हो जायँगे। यह बात बिल्कुल ठीक होनेपर भी अन्तः-करणकी मलिनता ही इस प्रकार अविश्वासमें हेतु है। इस अविश्वासको आप दूर कर सकते हैं, बड़ी आसानीसे दूर कर सकते हैं, भगवन्नामका आश्रय ले लीजिये। दृढ़ संकल्प करके, उन्हींकी कृपाका आश्रय करके, जीभ निरन्तर नाम ले, इसकी पूरी चेष्टा कीजिये। जबतक ऐसा समझमें नहीं आता है कि निरन्तर नामका स्मरण ही होता रहे, तबतकके लिये नियम कर लीजिये कि कामभर बोलूँगा, कम-से-कम बोलकर काम चलानेकी चेष्टा करूँगा, बाकी कुल समय प्रभुके नाममें बीतेगा। बस, इतना ही मेरे हृदयके प्रेमसे लपेटी हुई प्रार्थना है। जिस दिन नाम-जप निरन्तर होने लग जायगा, फिर कोई कर्तव्य नहीं रहेगा।

जागतिक प्रेमका पर्यवसान श्रीभगवान्में होना चाहिये

जिस प्रेमसे हमलोगोंने अपने जीवनके इतने दिन बिताये, उस प्रेमका पर्यवसान श्रीभगवान्में होना चाहिये, तभी वास्तविक रूपमें हमलोगोंके प्रेमकी सार्थकता है। जगत्में किसीके प्रति भी यदि हमारा प्रेम है, किंतु बीचमें भगवान् नहीं हैं, तो वस्तुतः वह प्रेम दुःखान्त ही होता है। जगत्में आज इतना दुःख, दैन्य, निराशा, विश्वासघात, स्वार्थपरता और नृशंसता आदि इसलिये ही बढ़ रहे हैं कि श्रीभगवान्से रहित चेष्टा होने लगी है, अर्थात् किसी भी चेष्टाका तात्पर्य भगवान्की प्रसन्नता नहीं है। भगवत्प्रसन्नताकी बात तो दूर, 'भगवान् हैं'—यह विश्वास भी अधिकांश मनुष्य खोते चले जा रहे हैं। 'प्रेम'के नामपर आत्मेन्द्रिय-प्रीतिकी वासना काम करती है। इसलिये हमलोगोंको इस सम्बन्धमें बहुत सावधान रहनेकी जरूरत है।

अन्तःकरणकी स्वच्छताके तारतम्यसे ही सत्यके प्रकाशका तारतम्य होता है

महात्मा लोगोंसे आपने न जाने कितनी बार सुना होगा—'अणु-अणुमें प्रभु विराज रहे हैं; ऐसी कोई जगह नहीं है, जहाँ वे न हों।' महात्मा लोग केवल

ऐसा कहते हैं, ऐसी बात नहीं है; उन्हें अणु-अणुमें प्रभुके दर्शन होते हैं। पर क्या हमलोग उनके इस कथनका पूरा-पूरा मर्म ग्रहण कर पाते हैं? यदि ग्रहण कर पाते तो तत्क्षण हमें भी अणु-अणुमें प्रभुका दर्शन होने लग जाता। ऐसा क्यों नहीं होता? अर्थात् 'अणु-अणुमें प्रभु हैं'—इस कथनका मर्म ग्रहण होकर अणु-अणुमें प्रभुका दर्शन क्यों नहीं होने लग जाता? इसका वास्तविक कारण तो प्रभु जानें, पर महात्मा लोग स्थूल कारण बतलाते हैं कि अन्तःकरणमें सामर्थ्य नहीं है कि वह सत्यके मर्मको ग्रहण कर सके। अन्तःकरण मलिन है। अन्तःकरणकी स्वच्छताके तारतम्यसे ही सत्यके प्रकाशका तारतम्य हो जाता है। सत्य वस्तु एक होते हुए भी ग्रहण-शक्तिके तारतम्यसे अनुभवका भी तारतम्य हो जाता है।

असभ्य विज्ञापन

बिस्तरपर पड़े-पड़े और डाक्टरोंके आज्ञानुसार गम्भीर वाचनके टालनेकी कोशिश करते हुए, मेरी नजर संयोगवश अखबारोंके विज्ञापन-पृष्ठोंपर पड़ जाती है। वे कभी-कभी बड़ी दुःखदायी शिक्षा देते हैं। अक्सर प्रतिष्ठित पत्रोंमें मैं कामोत्तेजक विज्ञापनोंको देखता हूँ। शीर्षक धोखा देनेवाले होते हैं। एक उदाहरण लीजिये। शीर्षक था—'योग-सम्बन्धी पुस्तकें'; पर विज्ञापनके मजमूनको पढ़नेपर मुझे दस पुस्तकोंमेंसे मुश्किलसे एक किताब ऐसी मिली, जो योगसे कुछ सम्बन्ध रखती थी। शेष सब कामशास्त्र-सम्बन्धी थीं, जिनके नामोंसे यह सूचना मिलती थी कि युवक और युवतियाँ बेखटके विषयानन्द ले सकते हैं और वे उसके लिये गुह्य उपाय बतानेका वचन देती थीं। मैंने और भी कई ऐसी चीजें देखीं, जिनको मैं इन पृष्ठोंमें देना नहीं चाहता। शराब और ऐसी दवाओंके विज्ञापनोंसे, जिनसे युवकोंके चित्त अपवित्र होते हैं, शायद ही कोई अखबार बचा हो। इन अखबारोंके सम्पादक और मालिक तो स्वयं शराब, तम्बाकू आदि बुराइयोंके विरोधी समझे जाते हैं, कभी-कभी वे इन चीजोंके विज्ञापनोंसे मिलनेवाली आयके विरोधी भी नहीं मालूम होते, जो कि स्पष्टरूपसे उन बुराइयोंको बढ़ानेके लिये दिये जाते हैं जिन्हें वे स्वयं टालते हैं। इसके उत्तरमें कभी-कभी यह दलील पेश की जाती है कि सिवा इसके और किसी तरह अखबार चल नहीं सकते। पर क्या हर बातका बलिदान देकर इस तरह अखबार जारी रखना आवश्यक है? क्या वे जिस भलाईका प्रचार कर रहे हैं, वह इतनी बड़ी है, जो इन हानिकर विज्ञापनोंसे फैलनेवाली बुराईको दबा दे? हमारे यहाँ अखबार चलनेवालोंकी एक संस्था है। क्या उसके द्वारा अपने लिये एक निश्चित नियम बनाकर इस तरहका लोकमत तैयार करना सम्भव नहीं है, जो एक प्रतिष्ठित पत्रके लिये उन नीति-नियमोंका उल्लङ्घन करना असम्भव कर दे?

—महात्मा गांधी

मृत्युसे प्रेरणा लें

(लेखक—संत श्रीविनोबा भावे)

मृत्यु एक ऐसी घटना है, जिसके बारेमें मनुष्यको खूब सोचना चाहिये । 'साम्य-सूत्र'में लिखा है—'मृतिस्मृतिः शुद्धये—मरणकी स्मृति चित्तशुद्धिके लिये बहुत उपयोगी है'; इसलिये मृत्युका सतत स्मरण होना चाहिये । हम मृत्युका स्मरण टालते हैं, वह टालना गलत है । मृत्यु जीवनकी एक हकीकत है और बहुत लाभदायी है । हम जहाँ जन्म पाते हैं, उसके पहले भी अव्यक्तमें हमारा लंबा जीवन था । यह बीचमें छोटा-सा मुकाम । आगे और पीछे बहुत लंबा काल है । बीचमें यह छोटा-सा काल है । इस छोटे-से कालमें एक बात याद रखें कि किसीके चित्तको कभी भी न दुखायें ।

मरणका सतत स्मरण रहेगा तो यह बात हमेशा हमारे चित्तमें जाग्रत् रहेगी । जीवनमें इतना साध लें कि किसीको दुखायेंगे नहीं । इसको पूर्वजोंने 'अहिंसा' नाम दे दिया—'अहिंसा' यानी किसीके चित्तको दुखाना नहीं । शेक्सपीयरका एक वाक्य है—'अगर मेरा मित्र आज शामको मरेगा, यह मुझे मालूम होता, तो सुबह उसे जो कटु बोला, वह नहीं बोलता ।' मालूम हो कि यह शामको मरनेवाला है, तो सुबह उसके साथ झगड़ा नहीं करेंगे । इसलिये मनुष्यको हमेशा समझ लेना चाहिये कि हमारा या हमारे मित्रका अन्त आज ही हो सकता है । इसलिये किसीके चित्तको न दुखाना हमारा बहुत बड़ा कर्त्तव्य माना जाना चाहिये । हम दान-धर्म करते हैं, वह गौण वस्तु है । मुख्य वस्तु है किसीके चित्तको न दुखाना ।

दूसरी बात, मरणका स्मरण हमेशा रहेगा, तो उससे चित्त प्रसन्न रहेगा । चंद दिन रहना है; चंद दिनमें हमारी सबके साथ प्रेममय सम्बन्ध बनानेकी कोशिश हमेशा होगी। उसका परिणाम यह होगा कि आत्माके अमरत्वका ख्याल होगा । भागवतमें वचन आता है, उसका आधार उपनिषद्में है । 'परमेश्वर'ने अनेक प्राणी पैदा किये, उसका समाधान हुआ नहीं । आखिर मनुष्य पैदा हुआ और 'मुदमाप देवः—परमेश्वर संतुष्ट हुआ ।' 'तैस्तैरतुष्टहृदयः—उसका हृदय असंतुष्ट था ।' 'पुरुषं विधाय—मनुष्यकी आकृति बनी' और वह प्रसन्न हुआ । क्यों आनन्द हुआ भगवान्को ? क्योंकि वह तनु ऐसी है, जिसमें ब्रह्मसाक्षात्कारकी शक्ति है । मतलब, इस मानव-शरीरमें पैदा होना और ब्रह्म-साक्षात्कार किये बिना मरना—यह मानव-जीवनका दुरुपयोग हुआ । इसलिये जहाँ मृत्युका स्मरण रहेगा निरन्तर, वहाँ ब्रह्मविद्याका भान रहेगा । हमारा कर्त्तव्य आत्मसाक्षात्कार करना है, वह करके ही हम जायँगे ।

तीसरी बात, उसके लिये रोज साधना करनी चाहिये । वह कौन-सी ? उसको मैंने नाम दिया है, मेरा दिया हुआ नाम है, 'मृत्युका पूर्व-प्रयोग' । जब कोई नाटक करते हैं, तो नाटक उत्तम हो, इसके लिये उसका पूर्वप्रयोग—rehearsal करके देखते हैं । वैसे ही अगर हम चाहते हैं कि मृत्यु अच्छी तरह आये, मृत्युके समय परमात्माका स्मरण हो, हम सावधान रहें, हमारे सारे विकार नष्ट हों तो मृत्युका पूर्वप्रयोग करना चाहिये । निद्रा मृत्युका पूर्वप्रयोग है । रातको निद्राके समय, हम मर रहे हैं—ऐसी भावना कर, परमात्माकी गोदमें लेट रहे हैं, ऐसी भावना करके सो जायँ । यानी सोते समय ध्यान, नामस्मरण करते हुए—मृत्युके समय हम जो करना चाहेंगे, वह करते हुए सो जायँ ।

तीन बातें मैंने कहीं—१. किसीका चित्त न दुखायें; २. आत्मसाक्षात्कारका ख्याल करें; ३. निद्राके समय ध्यान, भगवत्स्मरण करते हुए सो जायँ ।

गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी–४

[लेखक—डा० (सेठ) श्रीगोविन्ददासजी]

(गताङ्क, पृ० ११२९ से आगे)

चौथा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—गढ़ा (मध्यप्रदेश) में विष्णुताल ।

समय—अपराह्न ।

[बीचमें एक छोटे-से सरोवरका कुछ भाग दिखायी देता है, जो छोटी-छोटी पहाड़ियोंसे घिरा हुआ है। ये पहाड़ियाँ श्याम शिलाखण्डोंकी हैं, जो यत्र-तत्र पेड़-पौधों-लताओंसे आच्छादित हैं । इन हरित पेड़ों आदिके बीच-बीचमें काले शिलाखण्ड दिखायी देते हैं । यह श्याम और हरे रंगका मिश्रण दृश्यको बड़ी रमणीयता दे रहा है । चारों ओर घना जंगल है। इन पहाड़ियों और जंगली वृक्षोंका प्रतिबिम्ब इस सरोवरपर पड़ रहा है, जिससे दृश्य और सुन्दर हो गया है । कुछ गढ़ा-निवासी खड़े हुए बातें कर रहे हैं । सबकी वेश-भूषा उस समयके बुंदेलखंडके कृषकों-की-सी है, परंतु सबके ललाटपर वल्लभ-सम्प्रदायका तिलक और छापे लगे हैं ।]

एक—ऐसा विद्वान्, विचारशील, त्यागी और चमत्कारी व्यक्ति कदाचित् ही कहीं हो ।

दूसरा—हाँ, गोसाईं विठ्ठलनाथजीके सदृश महापुरुष देखा क्या, सुना भी नहीं था ।

तीसरा—सम्राट् अकबरको इतना प्रभावित कोई हिंदू तो क्या, मुल्ला या मौलवीतक नहीं कर सका ।

चौथा—हाँ, 'गोसाईं'की सबसे बड़ी हिंदू-पदवी अकबरने उन्हें दी और कितनी बड़ी जागीर श्रीनाथजीके मन्दिरके पीछे लगा दी !

पाँचवाँ—और जागीर स्वीकार करनेपर भी गोसाईंजीने श्रीनाथजीके कृष्णभंडारका ऋण चुकानेके लिये राजा बीरबलसे धन लेना मंजूर नहीं किया ।

दूसरा—इस सम्बन्धमें उनका सिद्धान्त स्पष्ट है । वे अपने पिताकी भाँति दैवी द्रव्य ही लेते हैं । जागीरका धन भी जितना शास्त्रके अनुसार लिया जा सकता है (अर्थात् उपज-का छठा हिस्सा), उतना ही कृषकोंसे लेंगे और फिर यह देख लेंगे कि कृषक कोई कष्ट पाकर तो नहीं दे रहा है। उसे वे दैवी द्रव्य मानेंगे । राजा बीरबलका धन उन्होंने इसलिये स्वीकार नहीं किया कि वह न जाने किन मार्गोंसे इकट्ठा किया गया हो ।

पहला—और उनका चमत्कार हम गढ़ा-निवासियोंने तब देखा, जब उनके कुछ चाकरोंने 'इस्तु-इस्तु' कहकर अग्नि माँगी और उनकी यह भाषा समझमें न आनेके कारण किसीने उन्हें अग्नि नहीं दी । उनके ठाकुरजीके कामोंमें बिना अग्निके बाधा पड़ रही थी और विलम्ब हो रहा था; अतः कुछ क्षोभसे उनके मुँहसे निकल गया—'क्या इस गाँवमें अग्नि नहीं है ।' उनके मुखसे यह निकलते ही सारे गढ़ाकी अग्नि बुझ गयी और हाहाकार मच गया। झुंड-के-झुंड नागरिक—यहाँतक कि हमारी महारानी दुर्गावती भी—उनके पास दौड़े हुए आये ।

दूसरा—हाँ, यह बात फैलते देरी नहीं लगी थी कि उनके मुखसे यह निकलते ही कि 'क्या इस गाँवमें अग्नि नहीं है', गाँवकी अग्नि बुझ गयी ।

तीसरा—और जब महारानी तथा नागरिकोंने प्रार्थना की कि 'फिरसे अग्नि जल उठे', तब उनके मुखसे 'तथास्तु' शब्द निकलते ही सब जगह अग्नि प्रज्वलित हो उठी ।

पहला—मैंने कहा न, ऐसा चमत्कारी व्यक्ति कहीं न होगा, जिसके अधीन सृष्टिके पाँचों तत्त्व भी हों ।

चौथा—सुना है कि उनकी धर्मपत्नी, जिन्हें ये लोग 'बहूजी महाराज' कहते हैं, अब नहीं हैं ।

पाँचवाँ—हाँ, जतीपुरामें मैंने देखा है कि श्रीनाथजीकी इस वैभवशाली सेवामें बहूजी महाराजका कितना अधिक हाथ था ।

दूसरा--अब हमारी महारानीके आग्रहसे पुरानी बहूजी महाराजके स्थानपर नयी बहूजी आ जाँगी।

पहला--वे फिरसे विवाह करना स्वीकार करें, तब तो।

तीसरा--इस अग्निकाण्डकी घटनाके कारण हमारी महारानीपर उनका अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। वे उनकी दीक्षासे दीक्षित हो गयी हैं और जितना प्रभाव महारानीपर उनका पड़ा है, उससे कम प्रभाव महारानीका भी उनपर नहीं है। अतः वे महारानीका आग्रह नहीं टाल सकेंगे।

पहला--नहीं, महारानीपर उनका जितना प्रभाव है, उतना महारानीका उनपर नहीं। तुम्हें पता नहीं है, महारानीने सोमवती अमावस्यापर जिन १०८ गाँवोंको दान करनेका संकल्प किया था, उन गाँवोंको महारानी जब उन्हें भेंट करने गयीं, तब उस भेंटको उन्होंने स्वीकार नहीं किया और कहा कि 'दानमें दी हुई वस्तु हम ग्रहण नहीं कर सकते।' उन्होंने वे गाँव यहाँके भट्टोंको बाँट दिये। अतः महारानीकी दूसरा विवाह करनेके सम्बन्धमें यह विनती वे स्वीकार करेंगे, यह कैसे माना जाय।

(नेपथ्यमें कुछ हल्ला होता है। नागरिकोंका ध्यान उस ओर आकर्षित होता है।)

कुछ नागरिक--(एक साथ) देखो-देखो, गोसाईंजी इधर ही पधार रहे हैं।

दूसरे कुछ नागरिक--(एक साथ) हमारी महारानी भी कदाचित् उनके साथ आ रही हैं।

(गोसाईंजीका कुछ वैष्णवों और महारानी दुर्गावतीके साथ प्रवेश। गोसाईंजी उपरना और धोती ही धारण किये हैं। नागरिक उस कालके बुन्देलखंडके कृषकोंकी-सी वेश-भूषामें हैं, पर सबके ललाटपर वल्लभ-सम्प्रदायका तिलक और छापे लगे हुए हैं। पहलेवाले नागरिक आगन्तुकोंके साथ मिल जाते हैं। महारानी अधेड़ अवस्था और बलिष्ठ शरीरकी ऊँची-पूरी सुन्दर महिला हैं। रंग गोरा है। उनका उस कालका मर्दाना सैनिक वेष है। दो भृत्य सरोवरके एक चौड़े घाटपर दो आसन बिछाते हैं। विट्ठलनाथजी एक आसनपर बैठते हैं। दुर्गावती दूसरे आसनको हटाते हुए भूमिपर ही यह कहते हुए बैठती हैं--'जयके सम्मुख मैं आसनपर बैठूँ?')

गोसाईंजी--महारानीजी! प्राकृतिक दृष्टिसे आपका यह गढ़ा-क्षेत्र सचमुच ही बड़ा सुन्दर है।

दुर्गावती--आपके यहाँ पधारनेसे इसकी सुन्दरता निखर गयी है।

गोसाईंजी--कितनी रमणीय पहाड़ियाँ! कितना मनोरम वन और बीच-बीचमें स्फटिक मणिके सदृश श्वेत निर्मल जलसे भरे हुए ये सरोवर! ब्रजमण्डलसे ही यहाँकी प्राकृतिक छटाका मिलन हो सकता है।

दुर्गावती--परंतु जय! उस क्षेत्रमें तो आनन्दकंद भगवान् कृष्णचन्द्रकी लीलाएँ हुई थीं। वह सौभाग्य इस क्षेत्रको कहाँ!

गोसाईंजी--हाँ, यह अन्तर तो अवश्य है।

दुर्गावती--फिर, कृपानाथ! आज भी वहाँ श्रीनाथजीके रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण ही विराजे हैं। मेरा तो दुर्भाग्य है कि अबतक मैं श्रीनाथजीके दर्शन नहीं कर सकी; परंतु अब यदि कृपानाथने मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया तो सतत ही मुझे श्रीनाथजीके दर्शन मिलते रहेंगे।

गोसाईंजी--(मुस्कराते हुए) और यदि मुझे आपका प्रस्ताव स्वीकार न हुआ तो आप जतीपुरा नहीं आयेंगी?

दुर्गावती--यह मैं थोड़े ही कहती हूँ। परंतु मैंने सुना है कि रुक्मिणीजीका श्रीनाथजीकी वर्तमान वैभवशाली सेवामें कितना हाथ था। मैं चाहती हूँ कि उनके स्थानपर मेरे राज्यकी ही एक सुशील कन्या पहुँचे और श्रीनाथजीकी सेवामें रुक्मिणीजीके लीलामें पधारनेसे जो एक प्रकारकी शून्यता-सी आ गयी है, वह भर जाय।

गोसाईंजी--पर, महारानी! यह सम्भव ही कैसे है। पिताश्री विवाह ही नहीं करना चाहते थे; परंतु सम्प्रदायके हितके लिये संतानकी आवश्यकता है और उन्हें इसके लिये विवाह करना चाहिये, यह उन्हें पाण्डुरङ्ग विट्ठलनाथजीकी आज्ञा हुई। केवल इसी कारण उन्होंने विवाह किया। मेरे तो छः पुत्र और चार पुत्रियाँ हैं।

दुर्गावती--परंतु जय! बहूजी महाराजके लीलामें पधारनेके पश्चात् क्या आपने यह अनुभव नहीं किया कि श्रीनाथजीकी सेवामें वह रस कुछ सीमातक शुष्क हो गया है, जो बहूजी महाराजके रहते हुए वह रहा था। मुझे आपकी शरणमें आये बहुत समय नहीं बीता है; पर इस अल्पकालमें ही

आपने मुझे श्रीनाथजीकी उस सेवाका वृत्त बताया है, जो सेवा आप दोनों मिलकर करते थे। आपने मुझे महाप्रभुजीके चौरासी वैष्णवोंमेंसे कइयोंकी तथा आपके स्वयंके शिष्योंमेंसे कइयोंकी वार्ताएँ बतायी हैं। इनमें जिन्होंने दम्पतिके रूपमें सेवा की थी और जो आज भी दम्पतिके रूपमें सेवा करते हैं, उनकी सेवा एकाकियोंसे कहीं अधिक रसमयी होती है। महाप्रभुजीने यदि सम्प्रदायकी परम्पराके हेतु संतानके लिये विवाह किया था तो आपको भगवत्सेवामें रसकी उत्पत्तिके लिये फिरसे विवाह करना चाहिये। भगवान्‌की कृपासे आपकी शारीरिक सम्पत्ति भी अभी विवाहके योग्य है।

गोसाईंजी—नहीं-नहीं, महारानी! आप यह आग्रह छोड़ दें। रुक्मिणीका स्थान मैं किसी अन्य कुमारीसे भरूँ, यह मेरे लिये सम्भव नहीं है।

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान—वही।

समय—संध्या।

[एक ओरसे कुछ और दूसरी ओरसे अन्य नागरिकोंका प्रवेश।]

एक—अरे, सुना, सुना तुमने—पद्मावतीने प्रतिज्ञा की है कि यदि वह विवाह करेगी तो गोसाईंजीसे, अन्यथा आजीवन कुमारी ही रहेगी।

दूसरा—हाँ, अभी-अभी सुना। पद्मावतीके पिताके लिये तो बड़ी भारी समस्या हो गयी।

तीसरा—किसी भी पिताके लिये इससे बड़ी कौन-सी समस्या हो सकती है।

चौथा—और गोसाईंजी किसी प्रकार भी विवाह करनेके लिये स्वीकृति नहीं दे रहे हैं।

पाँचवाँ—मेरा तो विश्वास है कि श्रीनाथजीकी जो इच्छा होगी, वही होगा।

पहला—हाँ, इसे तो मैं भी स्वीकार करता हूँ।

दूसरा—और श्रीनाथजीकी इच्छा यदि यह न होती कि गोसाईंजीका फिरसे विवाह हो तो यह प्रश्न ही न उठता।

तीसरा—श्रीनाथजी उस कालकी सेवा देख चुके हैं, जिस कालमें गोसाईंजी और रुक्मिणीजी मिलकर उनकी सेवा करते थे।

(नेपथ्यमें कुछ हल्ला होता है।)

कुछ नागरिक—लो, गोसाईंजी फिर इसी अपने प्रिय स्थलपर पधार रहे हैं।

दूसरे कुछ नागरिक—और विवाहका यह प्रश्न भी कदाचित् अब हल हो जायगा।

(गोसाईंजी हर्षानीजी तथा कुछ वैष्णवोंके साथ प्रवेश करते हैं। सरोवरके उसी घाटपर उनका आसन बिछता है, जिसपर पहले दृश्यमें बिछा था। गोसाईंजी अपने आसनके आधे भागपर बैठते हैं, शेष आधे भागपर हर्षानीजी। अन्य वैष्णव भूमिपर बैठते हैं।)

हर्षानी—इस प्रश्नके निर्णयका भार आपने, जय! मुझपर रख दिया था। मैंने सारे विषयपर गम्भीरता-पूर्वक विचार किया है।

गोसाईंजी—जो भी निष्कर्ष आपने निकाला हो, वह मुझे बता दीजिये। मैंने तो कह ही दिया था कि जो निर्णय आप करेंगे, वह मुझे स्वीकृत होगा। पिताश्री जिस प्रकार मुझे आपको सौंप गये थे, उसे देखते हुए मैं अन्यथा कर ही क्या सकता था। आजपर्यन्त आपके किसी मन्तव्यके विरुद्ध मैं चला हूँ?

हर्षानी—जय! आपकी जो कृपा और जो विश्वास मुझपर है, क्या मैं वह जानता नहीं? जैसा मैंने निवेदन किया, सारे प्रश्नपर मैंने गम्भीरतापूर्वक विचार किया। महारानी दुर्गावतीका एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है। उनका प्रस्ताव है। श्रीनाथजीकी सेवासे भी इस प्रस्तावका निकटका सम्बन्ध है और फिर अभी-अभी मैंने सुना कि उस कन्याने तो निश्चय किया है कि यदि वह विवाह करेगी तो आपसे, अन्यथा कुमारी ही रहेगी। मैं इसी निश्चयपर पहुँचा हूँ कि यह विवाह आपको विवश होकर करना ही होगा।

गोसाईंजी—(आँखोंमें आँसू भरकर, गद्गद स्वरमें) मैंने कहा ही है कि आप जो भी निर्णय करेंगे, मैं उसके अनुसार चलूँगा; परंतु, हर्षानीजी! क्या मैं किसी प्रकार भी रुक्मिणी-को भूल सकता हूँ? उनके स्थानपर किसी अन्य कुमारीको बिठाना.......।

हर्षानी—कृपानाथ! जीवनमें कई ऐसे प्रसङ्ग आते हैं, जब भावनाओंको एक ओर रख, छातीपर पत्थर रखकर

कर्तव्यका पालन करना पड़ता है। श्रीनाथजीकी ऐसी ही इच्छा है कि आप फिरसे विवाह करें।

लघु यवनिका (क्रमशः)

ऊखल-बन्धन-लीला

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

ब्रिटिश शासनकालमें बंगालके सुप्रसिद्ध रङ्गमञ्चपर 'नीलदर्पण' नाटकका अभिनय किया जा रहा था। उस दृश्यमें नीलके व्यापारी गोरे साहब गरीब जनतापर कैसा अत्याचार-अनाचार करते हैं, यह दिखलाया गया था। दर्शकोंकी श्रेणीमें विश्व-विश्रुत विद्वान् श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर बैठे हुए थे। अभिनय देखते-देखते उन्हें यह विस्मृत हो गया कि यह नाटक है। वे क्रोधसे तिलमिलाकर मञ्चपर चढ़ गये और अंग्रेज बने अभिनेताको जूतेसे पीटने लगे। पर्दा गिरा। वे शान्त होकर अपने स्थानपर बैठ गये। नाटकके व्यवस्थापकने मञ्चपर आकर दर्शकोंके सम्मुख भाषण किया कि आज हमारी अभिनय-कला धन्य-धन्य हो गयी, विद्यासागर-जैसे महान् विद्वान् इस दृश्यके नाटकपनको भूल गये और सत्य समझकर अभिनेता नटपर प्रहार कर बैठे। धन्य है कला और धन्य है दर्शककी तन्मयता।

प्रपञ्चका विस्मरण और भगवान्में तन्मयता यही लीलाका प्रयोजन है। यह प्रपञ्चका लय करती है और भगवान्में लीन करती है। जहाँ स्वयं भगवान् ही लीलानायक हों, उस लीलाकी पूर्णतामें कोई संदेह नहीं हो सकता। वहाँ प्रपञ्चका विस्मरण हो जाय, भगवान्की भगवत्ता भी भूल जाय, हम उनकी लीलामें तन्मय हो जायँ, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यहाँ हम इतना स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि भगवान्की लीलाके प्रतीकार्थ निकाले जा सकते हैं; परंतु वस्तुतः भगवान्की लीला प्रतीक नहीं होती। निराकारका साकार प्रतीक होता है। परोक्षका प्रत्यक्ष प्रतीक होता है। अज्ञातका ज्ञात प्रतीक होता है। परंतु जो सर्वात्मा, सर्वस्वरूप है, वह लीलाधारी और लीला भी है। अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। सुनार भी वही, सोना भी वही। अतएव भगवान्की लीला भगवत्स्वरूप ही होती है और उसमें तन्मयता भगवत्स्वरूपापत्ति ही होती है। उस रस-कल्लोलमें उन्मज्जन-निमज्जनके अतिरिक्त उसका कोई अन्य प्रयोजन या फल नहीं होता। भगवान् स्वयं सब फलोंके फल हैं। उनकी लीला भी वैसी ही है। वह गौण हो और उसका फलितार्थ मुख्य—यह कल्पना ठीक नहीं है। उच्छलित रसका ही नाम 'लीला' है। यह भगवन्मय भगवद्विलास है। अविद्यामूलक बन्धनकी निवृत्तिके अनन्तर ही इसका यथार्थ अनुभव होता है।

आइये, मेरे साथ गोकुलमें चलिये। भले ही आप अन्तर्देशके निभृततम प्रदेशमें प्रवेश करके नितान्त शान्त स्थितिमें विराजमान हों, आइये, एक बार एकान्त कान्तारका शून्य प्रदेश छोड़कर, जहाँ गौएँ—इन्द्रियाँ घूम-फिरकर विषय-सेवन करती हैं, वहीं, उन्हींके बीचमें, उन्हीं विषयोंमें, निराकार नहीं साकार, अचल नहीं चञ्चल, कारण नहीं कार्य, विराट् शिशु, गम्भीर नहीं स्मितसुन्दर, जगन्नियन्ता नहीं यशोदोत्सङ्ग-लालित, साक्षात् परब्रह्मका दर्शन करें। यह ब्रह्मका प्रतीक नहीं है, साधन करके ब्रह्म नहीं हुआ है, अविद्यानिवृत्ति करके ब्रह्मानुभूति नहीं प्राप्त की है, यह ब्रह्मका अवतार नहीं है, यह आचूल-आपादमूल शिशु ब्रह्म है—इसके दर्शन कीजिये।

अभी-अभी यशोदा माता इस शिशुके मुखमें विश्व-दर्शन करके चकित-विस्मित हो चुकी हैं। श्याम ब्रह्मने सोचा—कहीं मेरी माँ मुझे सिंहासनपर बैठाकर चन्दन-माल्य अर्पित न करने लगे, आरती न उतारने लगे, इसलिये 'मैया-मैया' कहकर गलेमें दोनों हाथ डाल दिये, हृदयसे मुख लगा दिया। माता सब कुछ भूलकर दुग्धाकार परिणत हार्दस्नेह-रसका पान कराने लगी। पहलेका विश्वरूप विस्मृतिके गर्भमें लीन हो गया। ऐश्वर्य अन्तर्हित हो गया। शैशव-माधुरी अभिव्यक्त हुई। इसमें प्रपञ्चका विस्मरण और शिशुब्रह्ममें परमासक्ति अनिवार्य है। यह सुख स्वर्गके समान परोक्ष नहीं है, ब्रह्मानुभूतिके समान शान्त नहीं है, विषय-संसर्गके समान आपातरमणीय एवं विनाशी नहीं है। इस रसमें देश, काल एवं वस्तुका लोप हो जाता है। ऐसा ही हुआ। माँ सब कुछ भूलकर इसी रसमें डूब गयीं।

राजा परीक्षित् यह लीला सुनते-सुनते मृत्युकी विभीषिका और मोक्षकी अभीप्सासे मुक्त हो गये। उन्होंने अपने हृदयकी लालसा प्रकट की—'यह सुख-सौभाग्य जो देवकी-वसुदेवके लिये भी अलभ्य है, इन्हें कैसे मिला ? मुझे कैसे मिलेगा ?' शुकदेव मुनि मुस्कुराये—'बस, इतनेमें ही आश्चर्यचकित हो गये ? यशोदा माताने इस शिशु ब्रह्मको गाय बाँधनेकी रस्सीसे ऊखलमें बाँध दिया था। इतने भक्त-वत्सल, भक्तोंके इतने अपने। वस्तुतः प्रेम भक्तके हृदयमें नहीं होता, वह ईश्वरके हृदयमें होता है। ईश्वर जब भक्तके परवश होकर विवशताकी माधुरीका आस्वादन करता है, तब उसे आत्मसुखसे भी कुछ अधिक अनुभूति होती है। जहाँ विवशतामें भी मिठासका अनुभव हो, वहाँ प्रेमरस छलकता है। ईश्वरका यह बन्धन भक्तवात्सल्यका अनुपम उदाहरण है।

इसकी उपलब्धि कैसे होती है ? जो साधनसे मिलता है, वह सीमित पारिश्रमिक होता है। जो स्वामीकी कृपासे मिलता है, वह कब मिले, कब न मिले—यह निश्चित नहीं रहता। तब भगवद्रसका आस्वादन कसे हो ? न साधन, न कृपा। एक तीसरा मार्ग है। वह है—महापुरुषका प्रसाद। यह ठीक है कि ईश्वरके अधीन सब कुछ है; परंतु वह ईश्वर प्रेमके अधीन है। प्रेमका धनी है महापुरुष और प्रेमका प्रेप्सु है ईश्वर। महापुरुष भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके हृदयमें प्रेमरसका संचार करके उसके द्वारा ईश्वरकी रस-पिपासाको तृप्त करते हैं। अतएव महापुरुष जब ईश्वरसे कह देते हैं कि तुम इस भक्तके साथ ऐसी लीला करो, ईश्वरको वही करना पड़ता है और इस विवशतामें ईश्वरका प्रेमरस उच्छलित होने लगता है। महापुरुषके प्रसादसे यह रस केवल भक्तको ही नहीं, अभक्तको भी मिल सकता है। इसके उदाहरण हैं—कुबेरके उद्दण्ड एवं जडभावापन्न पुत्र यमलार्जुन।

नित्यसिद्ध भक्तोंकी चर्चा छोड़ दें। नित्यसिद्ध यशोदा-नन्दका दर्शन दुर्लभ है। ब्रह्मा हैं महापुरुष। उनके कृपा-प्रसादके पात्र हैं द्रोण वसु एवं उनकी पत्नी धरा। इनका स्नेह सिद्ध हुआ ब्रह्माकी कृपासे। इन्होंने शिशु ब्रह्मको प्रेम-बन्धनमें बाँध लिया। यशोदाने उन्हें रस्सीसे ऊखलमें बाँधा। कृष्णके साथ बँधे ऊखलने जड वृक्षोंका उद्धार कर दिया। यह महापुरुषके प्रसादकी परम्परा हुई। और भी देखिये, महापुरुष नारदके मनमें उद्दण्ड, सुरापायी, अनाचारी, परस्त्रीसमासक्त यक्षराजकुमारोंपर करुणाका उदय हुआ। उन्होंने उनमें स्वधर्म (भगवद्भक्ति) का संचार कर दिया। उन्हें प्रपञ्च-विस्मृतिके रूपमें जड वृक्ष-योनि और हृदयमें भगवत्स्मृति प्राप्त हुई, यह 'अनुग्रह' है। श्रीकृष्णकी प्राप्ति हुई—यह 'प्रसाद' है। इस प्रकार प्रपञ्च-विस्मरण, भगवत्स्मरण, भगवद्दर्शन महापुरुषके कृपा-प्रसादसे ही प्राप्त होते हैं।

आइये यहाँ गोकुल गाँवके तीन लोकसे न्यारे पथमें। यहाँ स्थान-विशेषमें सर्वोपादान परमेश्वरका आविर्भाव है। दामोदर-मास कार्तिकमें अर्थात् कालविशेषमें लीलाका अवतरण है। यशोदा मैयाकी गोदमें रूपका अवतरण है। सब कृष्ण-ही-कृष्ण हैं।

भक्त माता यशोदाका दर्शन कीजिये। वह समग्र रसके निधान भगवान् श्रीकृष्णको सतृष्ण बनाकर अपना स्नेह-सार आस्वादन करनेके लिये उत्सुक बना देती है। उसमें ऐसी क्या विशेषता है ? देखिये, स्वयं आनन्दगेहिनी नन्दगेहिनी है, परंतु अपने शिशुके प्रति इतना प्रेम है कि जान-बूझकर गृहदासियोंको दूसरे कर्मोंमें लगा देती है। अपने हाथों श्रीकृष्णके लिये विशेष रूपसे निश्चित पद्मगन्धा गायके दूधसे जमे दहीका मन्थन करती है। माँ अपने हृत्पिण्ड वात्सल्य-भाजन शिशुके लिये अपने हृदयका स्नेह तो देती ही है, उसका मूर्तरूप दूध भी पिलाती है। यदि नवनीत खिलाना हो तो दूसरोंके हाथका निकाला हुआ नहीं, अपने हाथका निकाला हुआ हो। माता अर्थात् मूर्तिमान् स्नेह। माताके अतिरिक्त और किसीके हृदयका भाव शिशुके लिये (दूध-जैसी, ठोस वस्तुका रूप ग्रहण नहीं करता। माता यशोदाका कर्म—दधि-मन्थनरूप कर्म कृष्णके लिये है। उसके हृदयमें स्मरण कृष्णकी बाललीलाओंका है। स्मरण संगीतकी रसमयी धाराके रूपमें वाणीसे मूर्छित हो रहा है। कर्म, मन और वाणी—तीनों कृष्णके लिये। भक्तिका यही स्वरूप है। कर्ममें उद्देश्य भगवान् हो, अर्थात् उसके लिये क्रिया जा रहा हो। स्मरणका विषय भगवान् हो। वाणीके शब्द भगवत्सम्बन्धी हों। यशोदा मूर्तिमती भक्ति है। इसे अपने शरीर और शृङ्गारका विस्मरण है। स्वेद झलकता है मुखपर। मालतीके पुष्प सिरसे झड़कर पाँवोंमें गिरते हैं। शुकदेवजी इसकी झाँकीका दर्शन करते हैं। सचमुच यह भक्तिमाता ही रसके निधान भगवान्‌में अविद्यमान रसका दान करती है। भगवान् स्वतन्त्र हैं, वे भक्तके परतन्त्र हो जाते हैं।

ऐसा यन्त्र-मन्त्र भक्तिमाताके जीवनमें ही होता है। माता न होती तो भक्तवश्यताका रस कहाँसे मिलता ?

हाँ, तो माता दधि-मन्थन कर रही है। उसके मनमें लालसा है कि लालाके शयनसे उठनेके पूर्व सद्लोनी (सद्योनवनीत) निकाल लूँ। परंतु मन्थन करे, कृष्णको खिलानेके लिये लालसा करे और वे सोते रहें—यह भगवत्स्वरूपके अनुरूप नहीं है। 'तांस्तथैव भजाम्यहम्'—इस स्वभावके अनुगुण ही कुछ करना चाहिये। माँका स्नेह देखकर कृष्णका हृदय स्नेहसे भर गया। हृदय द्रवित हुआ। शरीरमें रोमाञ्च, मुखपर मुसकान, नेत्रोंमें चमक, साथ ही माँके पास पहुँच जानेकी ललक। अँगड़ाई ली, हाथोंसे नेत्र मल लिये, कपोलोंपर कज्जल फैल गया। माँ-माँ बोले; पलंगपर पाँव लटकाकर बैठ गये। बिना हाथ-मुँह धोये माँके पास पहुँचकर पल्ला पकड़ लिया—'ऊँ-ऊँ, मैं दूध पीऊँगा।' माँ मन्थनमें लगी रही। शिशु अपना। दूध छातीमें। मक्खन आनेवाला ही है, कहीं बैठ न जाय। ध्यान नहीं दिया। शिशु ब्रह्म धरतीमें लोट-पोट होने लगा। रोने लगा। फिर भी ध्यान न देनेपर उसने मथानी पकड़कर मन्थनका निषेध कर दिया। सारे कर्म, सभी साधन तभी-तक हैं, जबतक परमेश्वर न मिले। वह नवनीतोंका नवनीत श्याम ब्रह्म आ गया तो मन्थनसे क्या लाभ ? प्रयोजन-पूर्तिसे साधनका बाध हो जाता है। नदीके पार पहुँच गये, अब नावका क्या प्रयोजन ? यशोदा माताने उपनिषत्सुधाब्धिमें आहिण्डन करनेवाली विवेककी मथानी मानो छोड़ दी। अपने हृदयसे लगे शिशु ब्रह्मको दूध पिलाने लगी।

आचार्य वल्लभ इस प्रसङ्गका रसास्वादन करते हुए कहते हैं कि ऊखल-बन्धनका अत्यन्त विस्मयकारी चरित्र भक्तिको निश्चल करनेके लिये है। इसके द्वारा भगवान्‌के स्वरूप, कृपालु स्वभाव और दया-मिश्रित ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती है। यदि भक्तोंका भगवान्‌में और भगवान्‌का भक्तोंमें परस्पर निरोध हो जाय तो उभय-सम्बन्धसे वह दृढ़ हो जाता है। जीवका ज्ञान-वैराग्य और भगवान्‌का अनुग्रह—इन्हींसे भगवान्‌का वशीकार सिद्ध होता है। भक्ति 'नवधा' प्रसिद्ध है। दसवीं 'गुणातीत' है। अथवा भक्तिके नौ अङ्ग हैं और उनमें अनुगत दसवीं भक्ति 'स्नेह' है। अतः इसमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंका समावेश हो जाता है। जीव जब ईश्वरसे प्रेम करने लगता है, तब एक बार भगवान् भागते हैं। इससे आसक्ति और दृढ़ हो जाती है।

यशोदा गुणगान और दधि-मन्थन—दोनों साथ-साथ करती हैं। बाललीलाएँ अनेक हैं। उनका गान मुख्य है। दधि-मन्थन गौण है। यदि वह शीघ्र समाप्त हो जाय तो गानके रसमें बाधा पड़े। केवल दही नहीं मथा जाता, क्रिया-शक्ति भी मथी जाती है। इसीसे विषय (दही) और क्रिया (मन्थन) के सम्बन्धसे स्मृति परिपुष्ट होती है। परंतु यशोदाने इस गानामृतके आस्वादनमें भी स्वसुखरूप स्वार्थ देखा। अतः उसको गौण करके वे पूरी शक्तिसे दधि-मन्थनमें लग गयीं। भले ही अपने शरीरको पीड़ा पहुँचे—स्वेदादि हों, भगवद्भोग्य स्तन्य-पयोरसका भी निरोध करना पड़े, तद्गत देवताका निरोध करना पड़े, आन्तर स्नेहधारामें प्रतिबन्ध उपस्थित हो; फिर भी यशोदा दही मथती जा रही हैं। उनकी यह तत्परता देखकर मुक्त पुरुषोंके हृदयमें भी क्षोभ होता है। वे भी अपने स्नेह-लोभका संवरण नहीं कर सकते। सोचने लगते हैं—'हाय ! यह सुख-सौभाग्य हमें प्राप्त नहीं हुआ।' यशोदा माताके सिरसे मालतीके पुष्प गिर रहे हैं—इसका अभिप्राय बताते हुए आचार्य कहते हैं कि माताका केशपाश सिद्ध स्थान है। वहाँ मालती अर्थात् ब्रह्मविद्याकी स्थिति है। मालती=मा+अलम्=लक्ष्मीसे परिपूर्ण जगत् 'मालम्' है; उसका अतिक्रम करके जो रहे, वह 'मालती' अर्थात् ब्रह्मविद्या। वह भी भले चली जाय, परंतु यशोदा दही मथेगी।

भगवान्‌का आना और दर्शन देना, यह क्रिया और ज्ञान—दोनोंका समन्वय है। सगुण-साकार दर्शनमें यह समन्वय अपेक्षित है। इसीसे बाह्य और आन्तर उभयविध वृत्तियोंका निरोध होता है। हरि दुःखहारी हैं। वे माताका श्रम-दुःख निवारण करनेके लिये मथानीको पकड़ते हैं अर्थात् करणका निरोध कर देते हैं। यह मातृनिष्ठ और स्वनिष्ठ प्रीतिके युगपत् उदयके लिये युक्तिविशेष है। प्रीति जग गयी। भगवान् अङ्कातीत होनेपर भी अङ्कपर आरूढ़ हुए। माताकी प्रीति और भगवान्‌के अनुग्रहका यह स्पष्ट निदर्शन है। कृष्ण माँका हार्द-रस-स्नेह पी रहे हैं और माता पुत्रके स्मित-विकसित मुखारविन्दके मधुका पान कर रही है। उभय-निष्ठ रस ही पूर्ण होता है, एकाङ्गी रस अपूर्ण होता है।

श्रीजीव गोस्वामीके मतमें उलूखल-बन्धन-लीला पूर्वलीला एवं उत्तरलीलासे विलक्षण है। मृद्भक्षण एवं ग्वालिनोंकी तालीके साथ नृत्यसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परंतु श्रीधर स्वामीने इस लीलाकी यह संगति लगायी है कि मुखमें विश्वदर्शनसे माताके मनमें जो विस्मयका उदय हुआ था, उसकी शान्तिके लिये प्रत्येक रस्सी दो अंगुल न्यून है, यह दिखाकर अपनी पूर्णता अभिव्यक्त कर दी गयी। श्रीभक्ति-रसायनकार भक्तकवि श्रीहरिसूरिने कहा है कि मुखमें नाम-रूपात्मक प्रपञ्चका दर्शन हो जानेपर भगवत्सेवाके कार्यमें भक्तकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है। जो कर्मानुष्ठानके समय भी भगवत्स्मरण करता है, उसे भगवान् सुलभ होते हैं। माताके वस्त्राभूषणके वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि जो भगवान्के श्रवण-वर्णन, ध्यान-गान एवं सेवा-स्नेहमें संलग्न है, उसको संसार-त्यागकी आवश्यकता नहीं है। वह अपने विहित सांसारिक विषय-भोगोंके साथ भी भगवान्को प्राप्त कर सकता है। भगवान् हृदयके स्तनद्वारा छलकते हुए रसको देखते हैं और उसका पान करना चाहते हैं। वे बाह्य नैवेद्यरूप नवनीतकी ओर नहीं देखते। भक्तिकी पूर्णतामें कर्मत्यागका प्रत्यवाय नहीं है। जब अमृतस्वरूप 'मैं' प्राप्त हो गया, तब भूसी कूटनेसे क्या लाभ ? यशोदाने सारे कर्म छोड़ दिये। वे स्मित-सुन्दर मुखका पान करने लगीं और श्रीकृष्ण दूधका।

शिशुका नैसर्गिक पेय है—माताका स्तन्य। वह भगवद्भोग्य—श्रीकृष्ण-पेय पय हो चुका है। अब प्रश्न है—दूसरोंके पयको भगवद्भोग्य बनानेका। यह भी महापुरुष ही कर सकते हैं। अतएव मन्थनस्थानके बाह्यदेशमें परिपक्व होनेके लिये अग्निपर गायका दूध चढ़ाया गया है। अग्नितापसे उसमें (उफान) आया। भागवत हृदयका स्वभाव यह है कि वह आत्मसुखका संकोच अथवा परित्याग करके भी अन्य सुखको समृद्ध करे। इस प्रसङ्गमें माताने आत्मसुखका ही नहीं, भगवत्सुखमें भी बाधा डाली। वह श्रीकृष्णको छोड़कर वेगसे जलते दूधको सँभालनेके लिये दौड़ पड़ी। दूधमें उफान क्यों आया ? मन्थनानुरोधका परित्याग करके भगवदनुरोधके अनुसार दुग्धद्वारा उनके आप्यायनमें प्रवृत्त यशोदा उसकी उपेक्षा करके दुग्ध-रक्षणमें क्यों प्रवृत्त हुई ?

सब कुछ भगवदात्मक ही है। भगवद्धामके जडवत् प्रतीयमान पदार्थ भी चेतन ही होते हैं। भूमि, लता, वृक्ष—सब भावरूपसे अभिव्यक्त सद्ब्रह्म हैं। पशु-पक्षी, गाय-गोपालके रूपमें चिद्ब्रह्म है। आलम्बन-विभाव यशोदा-कृष्ण, श्रीदामादि सखा एवं कृष्ण, गोपी-कृष्ण आनन्दब्रह्म हैं। अग्निपर संतप्त होता हुआ दुग्ध भी भाव-संवृत चेतन है। वह अनेक जन्मोंमें तप करता हुआ भगवद्भोग्य दूधके रूपमें परिणत हुआ है। अब भी तप कर रहा है। उसके मनमें तीव्र अनुतापकी ज्वाला प्रदीप्त हो उठी—'हाय ! हाय ! सामने मेरे स्वामी हैं। उनके नाम-स्मरणसे भी जीवोंका पाप-ताप भस्म हो जाता है, परंतु मैं अभागा उन्हींके सामने संतप्त हो रहा हूँ। मुझे धिक्कार है। अब मैं आगमें कूदकर आत्महत्या कर लूँगा।' दूधके इस संकल्पको जानकर भगवान् श्रीकृष्णने ही यशोदाको उसपर दृष्टिपात करनेकी प्रेरणा दी। संस्कृतमें 'यशोदयेक्षितम्' पद है। इसका अर्थ यह भी है कि अपने यश और दयाको आज्ञा दे दी कि इसको सँभालो। भक्त-रक्षणके बिना मेरा यश अधूरा, दया निकम्मी है। अन्यथा यशोदा श्रीकृष्णमुखारविन्द-का पान छोड़कर दूधके लिये क्यों दौड़ती[1] ?

दूधको अपनी भूल ज्ञात हुई। यशोदाका भगवद्रस छूट गया। भगवान्के स्तन्य-पानमें बाधा पड़ी। दूध है तो तपस्वी, परंतु प्रियतमको सुख पहुँचानेके उल्लासातिशयमें इतना तन्मय हो गया कि इससे उन्हींके सुखमें बाधा पहुँच जायगी—इसका उसे ध्यान नहीं रहा। उसे अपने मर्यादातिक्रमणका ज्ञान हुआ। अपनेको धिक्कारा उसने। लज्जा-संकोचका उदय हुआ उसमें। मुँह लटक गया उसका। अर्थात् पात्रमें वह अपने स्थानपर बैठ गया[2]।

वह अधिक तपस्या करके अपने पूर्ण परिपाककी प्रतीक्षा करने लगा। भगवान्के सम्मुख या भागवतका दृष्टिपात होनेपर प्रतीक्षाकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। भगवान् किसीकी परीक्षा नहीं लेते; क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं। जो न जानता हो, वह परीक्षा करके जाने। वे जैसे अपनेको अभिव्यक्ति देकर भक्तोंमें प्रकट होते हैं, वैसे ही भक्तोंके

---

१. यन्नामस्मृतिरप्यलं विधुनुते संतापमस्य प्रभो-
रग्रे तापमुपैमि तद्धिगिति मां मत्वाग्नियाने पयः।
उद्युक्तं भवतीत्यवेक्ष्य हरिणा सर्वेश्वरेणैव तत्
सत्यानन्दयशोदयेक्षितमिहाकारीति मन्यामहे॥

२. उन्मार्गवर्तनेन हि पररसभङ्गो मयाधुनाकारि।
धिङ् मामिति किं त्रपया पयस्तदासीदधोमुखं सद्यः॥

(भक्तिरसायन)

भावको अभिव्यक्ति देकर साधकोंके लिये आदर्शकी व्यञ्जना करते हैं। अब भगवान्‌के मनमें विचार-परम्पराका समुदय हुआ। माँ भक्तको बचानेके लिये दौड़ी, यह ठीक है; परंतु मुझे छोड़कर क्यों गयी ? बड़े-बड़े ऋषि-मुनि 'सोऽहं'-भावनाके द्वारा भी मुझे प्राप्त नहीं कर सकते। वही मैं इसका भाव देखकर शिशु बना। यह दूधके लिये मुझे छोड़कर जाती है। अवश्य इसपर क्रोध करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि यशोदा श्रीकृष्णको छोड़कर चली जायँ और श्रीकृष्ण चुपचाप पड़े रहें तो मातृस्नेहकी अभिव्यक्ति नहीं हुई और यदि श्रीकृष्ण कुछ उपद्रव करें तथा माता उसके लिये शिक्षा—दण्डका प्रयोग न करे तो पुत्र-स्नेहकी अभिव्यक्ति नहीं हुई। स्नेह एक भाव है, जो वस्तु, क्रिया अथवा शब्दके वाहनपर आरूढ़ होकर व्यवहारमें उतरता है। निष्क्रियतामें केवल असङ्गता ही अभिव्यञ्जित होती है। वहाँ लीला-रस नहीं। स्नेहके प्रवाहमें बाधा पड़नेपर कोपका जन्म हुआ।

यहाँ यह ध्यान देनेयोग्य है कि सबसे प्रथम श्रीकृष्णके मनमें स्तन्य-पानकी 'कामना' अवतीर्ण हुई। कामनाके बाद स्तन्यका 'भोग' हुआ। भोगमें अतृप्ति हुई—यह 'लोभ' है। लोभके प्रतिहत होनेपर 'कोप'का उदय हुआ। भाण्ड-भञ्जनकी क्रिया 'हिंसा' आयी। झूठे आँसू—'दम्भ'का आना रोदनात्मक रुद्रके आगमनकी सूचना है। बासी माखनकी चोरी 'तृष्णाधिक्य' है। भय, पलायन और बन्धन उसके उत्तरभावी परिणाम हैं। कामनासे बन्धनपर्यन्त ईश्वरकी लीला है। उसके द्वारा जीवके लिये सावधान रहनेकी प्रेरणा है। भगवान् सर्वात्मक हैं। वे स्तेनों और तस्करोंके भी पति हैं। स्त्री-पुरुष, कुमारी-कुमार, युवा-वृद्ध—सब उनके स्वरूप हैं। जो उनको पहचान लेता है, वह सब भावोंमें, सब रूपोंमें उनका दर्शन करता है। अच्छा, तो अब इस लीलामें प्रवेश किया जाय।

एक जिज्ञासाका उदय होता है—'श्रीकृष्ण हार्द-स्नेह-रसका पान कर रहे हैं और यशोदा दर्शन-रसका। फिर वे उन्हें छोड़कर क्यों चली गयीं ?' इसके समाधानमें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीका कहना है कि 'आप यह शङ्का सर्वथा मत कीजिये कि यशोदाकी श्रीकृष्णपर जितनी ममता है, उससे अधिक दूधपर है; क्योंकि प्रेमकी परिपाटी ही ऐसी है।'

तद्भक्ष्यपेयादिषु काप्यपेक्षता
यया पुनः सोऽपि समेत्युपेक्ष्यताम्।
प्रेम्णो विचित्रा परिपाट्युदीरिता
बोध्या तथा प्रेमवतीभिरेव या॥

'अपने प्रियतमके भक्ष्य, पेय आदि उपयोगकी वस्तुओंमें कोई ऐसी अपेक्षा होती है, जिसके कारण कभी-कभी प्रियतम भी उपेक्षाका पात्र हो जाता है। यह प्रेमकी विचित्र परिपाटी है। इसे कोई-कोई प्रेमवती ही समझ सकती है।'

दूसरी बात यह है कि यशोदा माता परम भागवत हैं। उनकी करुणापूर्ण दृष्टिसे ही दूध भगवद्भोग्य एवं भगवत्-तादात्म्यापन्न हो सकता था। ऐसे अवसरोंपर भगवान्‌को एक ओर रखकर भी भक्तकी ओर देखना पड़ता है। यशोदा माता यदि एक-दो बार दूधको गर्म-ठंडा न करतीं तो वह भगवत्प्राप्तिके योग्य नहीं हो सकता था।

किसी-किसीने ऐसी उत्प्रेक्षा की है कि जब यशोदा माताकी दृष्टि अपने उत्सङ्गमें अभङ्ग क्रीडा करते हुए श्याम-सुन्दरसे हट गयी और दूधपर चली गयी, तब वहाँ आसक्ति होना युक्तियुक्त ही है। भगवद्विमुखताके परिणामका यह निदर्शन है। इसमें संसारासक्त स्त्रियोंके स्वभावका भी स्फुटीकार है। श्रीहरिसूरिका 'भक्ति-रसायन'में कहना है कि 'महान् सत्पुरुषका तिरस्कार करके क्षुद्र वस्तुके प्रति आदर-भावका होना स्वाभाविक है। कृष्णको छोड़कर दुग्धको सँभालना यही सूचित करता है।'

गुमान गोबिंदहि भावत नाहीं

अवनीस अनेक भए अवनीं, जिन के डर तें सुर सोच सुखाहीं।
मानव-दानव-देव सतावन रावन घाटि रच्यो जग माहीं॥
ते मिलये धरि धूरि सुजोधनु, जे चलते बहु छत्र की छाहीं।
बेद-पुरान कहैं, जगु जान, गुमान गोबिंदहि भावत नाहीं॥

—तुलसीदास

गुरु नानककी अमृत वाणी

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

कूड़ु राजा, कूड़ु परजा, कूड़ु सभु संसारु

सतिगुरु मिलै सु मरणु दिखाए ॥
मरण रहण रसु अंतरि भाए ।
गरब निवारि गगनपुरु पाए ॥ १ ॥

जीवन और मृत्यु ।
एक सिक्केके दो पहलू ।
जीवनसे हमें प्यार है ।

मौतका हम नाम भी नहीं सुनना चाहते । मरणके हम दर्शन भी नहीं करना चाहते । पर हम लाख चाहें, मौतसे हमारा पिण्ड छूट नहीं सकता ।

मौत तो हमारे भाग्यमें लिखी ही हुई है; जो पैदा होता है, उसे एक दिन मरना ही है ।

और सब बातें संदेहास्पद हो सकती हैं, पर मृत्युके बारेमें तो किसीको संदेह होता ही नहीं । अंग्रेजीमें कहावत ही है—

'It is as sure as death.' (फलाँ बात उतनी ही निश्चित है, जितनी मृत्यु) ।

मरणु लिखाई आए नहीं रहणा

ब्रह्माने जिस दिन हमारे भाग्यकी रचना की, उसी दिन उसमें लिख दिया कि फलाँ दिन फलाँ घड़ी इस शरीरका अन्त हो जायगा ।

मरणु लिखाई आए नहीं रहणा ॥

जब एक दिन मरना ही है, इस जगत्से जाना ही है, 'सभ दुनिया आवण-जाणिआ' ही है, तब अक्लमंदी तो इसीमें है कि हम जीवन और मृत्युके रहस्यको समझ लें और मृत्युकी तैयारी करें ।

मृत्युके भयसे मुक्त होनेका एक ही रास्ता है और वह है—

हरि-जप जापि रहणु हरि-सरणा

प्रभुका नाम जपना और प्रभुकी शरणमें रहना ।

लोग शवयात्राके साथ 'रामनाम सत्य है' कहते चलते हैं, 'सत श्रीअकाल' कहते चलते हैं, 'हरि बोल, हरि बोल' कहते चलते हैं; पर यह पुकार तो पहले ही लगानेकी है । चोला छूट जानेपर, देह छूट जानेपर देहीको उसका क्या लाभ ।

और तमाशा कैसा बढ़िया है ।

हम कंधेपर अरथी रखे हैं, 'राम नाम सत्य'की आवाज लगा रहे हैं, 'सत श्रीअकाल'की आवाज लगा रहे हैं, पर सोचते यह जा रहे हैं कि इस आवाजको सुनकर या तो मरनेवाले व्यक्तिका परलोक सुधरेगा या दूसरे सुननेवालोंका कल्याण होगा । हमें मानो उससे कोई वास्ता ही नहीं । हमें मानो कभी मरना ही नहीं । हमें मानो मृत्युकी चेतावनीकी आवश्यकता ही नहीं । कैसे अचम्भेकी बात है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥
(महाभारत, वनपर्व ३१३ । ११६)

रोज मर रहे हैं लोग, रोज लोग यमालयकी यात्रा कर रहे हैं—यह देखते हुए भी बचे हुए लोग सोचते हैं कि हमें कभी मरना ही नहीं । इससे बढ़कर आश्चर्यकी और क्या बात होगी ?

पर कबूतर भले ही आँख मूँदकर बैठा रहे, बिल्ली उसे पकड़कर खा ही जायगी ।

मीचु बिलइआ खइहै रे ॥
पेसो यह संसार पेखना रहन न कोई पइहै रे ॥

कंधे पै हवा के है मकाने हस्ती

'बिस्मिल' साहबने हस्तीकी रुबाइयोंमें बहुत बढ़िया खाका खींचा है मौतका—

एक एक से कहती है ज़बाने हस्ती,
बेकार हैं सब नामोनिशाने हस्ती ।
सौदा नहीं, सौदा न करो अय 'बिस्मिल',
बढ़ जायगी एक रोज़ दुकाने हस्ती ॥
करता हूँ बयाँ, सुनिये बयाने हस्ती,
कुछ भी नहीं, कुछ भी नहीं शाने हस्ती ।

इस साँस की बुनियाद ही क्या अये 'बिस्मिल',
कंधे पै हवा के है मकाने हस्ती ॥

सचमुच क्या बुनियाद है इस साँसकी ! किस घड़ी, किस क्षण यह साँस रुक जायगी, कौन कह सकता है । फिर तो यही कहते बनेगा—

करते हैं वज़ू आबे फनासे 'बिस्मिल',
होती है अदा आज नमाज़े हस्ती ।

जीवनकी यह आखिरी घड़ी कब आ जायगी, अन्तिम वेला किस समय, किस दिन आ जायगी—कौन जानता है ।

इसकी तैयारी न करना सबसे बड़ी बेवकूफ़ी है । पर हम सब इसी बेवकूफ़ीमें फँसे हैं । दुनियाकी, नश्वर जगत्‌की चकाचौंधमें फँसे हुए हैं । मौतको सामने देखते हुए भी इस मौतसे दूर भागते हैं ।

चिलिमिलि बिसीआर दुनीआ फानी

हम जानते हैं कि दुनियाका यह तमाशा पता नहीं, किस क्षण बंद हो जायगा; पता नहीं, किस घड़ी यह खेल खत्म हो जायगा; पता नहीं, किस वक्त यह पर्दा गिर जायगा; पर हम उसी खेलमें भूले हुए हैं—

चिलिमिलि बिसीआर दुनीआ फानी ।
कालूबि अकल मन गोर न मानी ॥
मन कमीन कमतरीन तू दरीआउ खुदाइआ ।
एकु चीजु मुझै देहि अवर जहर चीज न भाइआ ॥
पुराब खाम कूजै हिकमति खुदाइआ ।
मन तुआना तू कुदरति आइआ ॥
सग नानक दीवान मस्ताना नित चड़ै सवाइआ ।
आतस दुनीआ खुनक नामु खुदाइआ ॥

यह दुनिया फ़ानी है, नश्वर है; पर इसकी झलमलाहट, इसकी जगमगाहट, इसकी चमक हमें आकृष्ट करती है । हम इसकी नश्वरता देखकर भी देखना नहीं चाहते ।

हे खुदा ! हे परमेश्वर ! हे अकाल पुरुष ! कहाँ मैं कमतरीन, कहाँ तू उदारोंसे भी उदार ! तू ठहरा दयासागर, करुणा-सागर, कृपासागर ।

मुझपर तो तू बस एक इनाइत कर दे । मुझे केवल एक चीज दे दे । वह चीज है—तेरा अपना प्यारा नाम ।

और सब चीजें मेरे लिये ज़हर हैं, विष हैं । वे मुझे अच्छी नहीं लगतीं । वे मुझे नहीं भातीं ।

मेरा यह घड़ा, मेरा यह कूजा है तो मिट्टीका, है तो कच्चा; पर यह पुर-आब है; आबसे, पानीसे भरपूर है—इसमें जीवन—जल भरा है ।

यह सब तेरी हिकमत है, हे परमपुरुष ! हे खुदा ! मुझे सारी शक्ति, सारी ताक़त तुझसे ही मिली है । मैं हूँ तेरे दरवाजेका कूँचा (झाड़ू) मुझे तेरा ही नशा छाया है । दिन-दिन उसकी मस्ती सवायी होती चलती है ।

हे खुदा ! हे ईश्वर ! हे अकाल पुरुष ! हे वाहि गुरु ! यह संसार, यह दुनिया, यह जगत् आतिश है, आग है । सब लोग इसकी लपटोंमें, इसकी ज्वालामें जल रहे हैं । इसे शीतल करनेवाला, इसे ठंडा करनेवाला है—तेरा नाम ।

मनुष्य जब इस प्रकार जगत्‌की नश्वरताको समझकर प्रभुकी शरण लेता है, प्रभुके नाममें अपनी लौ लगाता है, तभी होता है उसका उद्धार ।

पर हमारे मनमें तो जगत्‌की नश्वरता बैठती ही नहीं । हमारी आँखोंके सामने रोज़ ही यह खेल खेला जा रहा है, पर हमारे कानोंपर जूँतक नहीं रेंगती । रोज़ हम देखते हैं कि राजा और रईस, छोटे और बड़े, ग़रीब और अमीर—सभी मौतके घाट उतर रहे हैं; पर हमें रत्तीभर भी चेत नहीं होता ।

से तन होवहि छार

केते नचहि मंगते गिड़ि मुड़ि पूरहि ताल ।
बाजारी बाजार महि आइ कढहि बाजार ॥
गावहि राजे राणीआ बोलहि आल पताल ।
लखटकिआ के मुंदड़े लखटकिया के हार ।
जितु तनि पाईअहि नानका से तन होवहि छार ॥

हजारों भिखारी, हजारों मँगते गलियोंमें नाच-कूदकर भीख माँग रहे हैं, बाजारमें अपना खेल दिखा रहे हैं । राजा-रानीकी तरह गा रहे हैं, ऊट-पटाँग बोल रहे हैं । लाख टकेकी अँगूठी पहने हैं वे और लाख टकेके हार पहने हैं । पर क्या होता है इस सारे नाच-कूदसे ? क्या होता है इस सारे वैभवसे ? जिस शरीरको इतना सजाया जाता है, वह पलभरमें खाक हो जाता है । मिट्टीमें मिल जाता है यह शरीर ।

मुइआ साथि न जाई

मरनेपर कोई किसीका साथ नहीं देता। सारा वैभव, सारा माल-खजाना, सारा महल यहीं पड़ा रह जाता है। एक कौड़ी भी साथ नहीं जाती।

कहा सु खेल तबेला घोड़े, कहा भेरी सहनाई।
कहा सु तेगवन्द गाडेरड़ि, कहा सु लाल कवाई।
कहा सु आरसीआ मुह बंके ऐथै दिसहि नाही॥

कहाँ हैं घोड़े, कहाँ है घुड़साल ! कहाँ है भेरी, कहाँ है शहनाई ! कहाँ है तलवार, कहाँ है रथ ! कहाँ हैं लाल वर्दीवाले सिपाही ! कहाँ है आरसी, कहाँ है आरसीमें देखे जानेवाले सुन्दर चेहरे ! हमें तो इनमें कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता।

इहु जगु तेरा, तू गोसाई।
एक घड़ी महि थापि उथापे, जरु वंडि देवै भाई॥

हे स्वामी ! हे मालिक ! हे परवरदिगार ! यह सारा जगत् तेरा है। तू ही इसका मालिक है ! एक घड़ीमें तू इसे बनाता है, दूसरी घड़ीमें इसे बिगाड़ता है; पलभरमें सृष्टि करता है, पलभरमें प्रलय। एककी दौलत दूसरोंको बाँट देता है। ऐसा चलता है तेरा खेल।

कहाँ सु घर दर मंडप महला, कहाँ सु बंक सराई।
कहाँ सु सेज सुखाली कामणि, जिसु वेखि नीद न पाई।
कहाँ सु पान तँबोली हरमा, होइआ छाई माई॥

कहाँ हैं वह घर, वह द्वार, वह महल ! कहाँ हैं वे बाँकी सरायें ! कहाँ हैं वे रूपसी कामिनियाँ, परम सुन्दरियाँ, जिन्हें देखे बिना चैन नहीं पड़ता था, आँखोंकी नींद हराम हो जाती थी ! कहाँ है उनकी सुखाली सेज ! कहाँ है वे पान, जिनसे होठ रँगे जाते थे ! कहाँ हैं वे बीड़ा लगानेवाले तमोली ! कहाँ हैं वे पर्दानशीन सुन्दरियाँ ! सभी तो खाकमें मिल गये।

इसु जर कारण घणी विगुती, इनि जर घणी खुआई।
पापा बाझहु होवै नाही, मुइआ साथि न जाई॥

जिस धन-सम्पत्तिके लिये लाखों लोग बर्बाद होते हैं, इतनी दुर्गति सही जाती है, इतनी ख्वारी होती है, कहाँ है वह धन ! बिना पापके पैसा इकट्ठा नहीं होता, बिना अन्यायके सम्पत्ति संचित नहीं होती। धन पानेके लिये, सम्पत्ति जुटानेके लिये मनुष्य कौन कौनसे पाप नहीं करता ! पर वही सम्पत्ति, वही धन, वही माल-खजाना अन्त समयमें यहीं पड़ा रह जाता है। मरनेपर एक कौड़ी भी साथ नहीं जाती।

बिखु माइआ चितु मोहिआ।

मनुष्य कामिनी-काञ्चनके आकर्षणमें पड़कर अपना जीवन नष्ट करता है। मायाका सुनहला जाल उसे पतनके गर्तकी ओर ढकेलता है। उसके अमृतमय जीवनमें विष घोल देता है—

बिखु माइआ चितु मोहिआ भाई चतुराई पति खोइ।
चित महि ठाकुरु सचि वसै भाई जे गुर गिआनु समोई॥

मायाके विषने, मायावी पदार्थोंने हमारे चित्तको मोह लिया है। हमारी सारी चतुराई खो गयी है। हमारी सारी अक्लमन्दी समाप्त हो गयी है। ठगिनी मायाके इस चक्रसे तभी बचा जा सकता है, जब गुरुका ज्ञान प्राप्त हो। गुरु-चरणोंमें स्थान पाकर ही इस ठगिनीसे बचा जा सकता है।

बड़े-बड़े साधु-संन्यासीतक मायाके जालसे अपनेको मुक्त नहीं कर पाते। कबीर साहब कहते हैं—

माया तजूँ तजी नहिं जाय॥
फिरि-फिरि माया मोहि लपिटाय॥

नाना रूप हैं इस मायाके। बार-बार आकर यह मनुष्यसे लिपट जाती है—

राजु मालु रूपु जाति जोबनु पंजे ठग।
एनी ठगीं जगु ठगिआ किनै न रखी लाज॥
एना ठगन्हि ठगसे जि गुर की पैरी पाहि।
नानक करमा बाहरे होरि केते मुठे जाहि॥

राज्य, धन-सम्पत्ति, रूप, जाति, यौवन—ये हैं पाँच ठग। पद-प्रतिष्ठा, अधिकार, सम्पत्ति, रूप, यौवन, जाति आदिके चक्करमें मनुष्य जीवनभर पड़ा रहता है। सारी दुनिया इन ठगोंके चक्करमें पड़ी है। मनुष्यको बुरी तरहसे बेइज्जत कर देते हैं ये ठग। इन्होंने किसीकी प्रतिष्ठा बची नहीं रहने दी। जिसे देखिये, वही इन ठगोंके चंगुलमें फँसा नजर आता है।

इन ठगोंसे केवल वही बच पाता है, वही इन ठगोंको अपने वशमें कर पाता है, जो गुरुकी शरणमें चला जाता है। अभागे हैं वे, जो इस मायाचक्रमें पड़े भवसागरमें गोते खाते रहते हैं।

मनु माइआ बँधिओ सर जालि ।
घटि घटि बिआपि रहिओ बिखु नालि ॥
जो आँजै सो दीसै कालि ।
कारजु सीधो रिदै सम्हालि ॥

जालकी तरह मायाने हमें चारों ओरसे लपेट लिया है। विषयोंके विषका हम रात-दिन पान करते रहते हैं। विषय-विकारोंके कीचड़में हमेशा फँसे रहते हैं। जो कोई इस जगत्में आया है, वह इस चक्करमें फँसे बिना नहीं रहता। हृदयमें प्रभुको बसा लेनेसे ही इस चक्करसे छुटकारा मिल पाता है।

कूड़ु सभु संसारु।

इस मायाको समझनेकी आवश्यकता है। यह झूठ है, असत्य है, क्षणभङ्गुर है, भ्रम है, धोखा है, छल है—इस तथ्यको हम जबतक नहीं समझते, तबतक हमारा कल्याण नहीं।

कूड़ु राजा, कूड़ु परजा, कूड़ु सभु संसारु।
कूड़ु मंडप, कूड़ु माड़ी, कूड़ु बैसणहारु॥
कूड़ु सुइना, कूड़ु रूपा, कूड़ु पैन्हणहारु।
कूड़ु काइआ, कूड़ु कपड़ु, कूड़ु रूपु अपारु॥

यह सारा संसार मिथ्या है, भ्रम है, धोखा है, नश्वर है, नाशवान् है। राजा भी मिथ्या, प्रजा भी मिथ्या। आकाशचुम्बी महल, आलीशान इमारतें, ऊँची अट्टालिकाएँ—सभी मिथ्या हैं, नश्वर हैं। उनमें रहनेवाले, उनके निवासी भी नश्वर हैं। सोना भी नश्वर है, चाँदी भी। सोना-चाँदी पहननेवाले व्यक्ति भी नश्वर हैं। काया नश्वर है, कपड़ा नश्वर है, रूप नश्वर है।

कूड़ु मीआ, कूड़ु बीबी, खपि होए खारु।
कूड़ि कूड़ै नेहु लागा, विसरिआ करतारु॥
किसु नालि कीचै दोसती सभु जगु चलणहारु।
कूड़ु मिठा, कूड़ु माखिउ, कूड़ु डोबे पूरु॥
नानक वखाणै बेनती तुधु बाझु कूड़ो कूड़ु॥

मियाँ भी नश्वर है, बीबी भी। पति और पत्नी दोनों नश्वर हैं। इस जालमें फँसकर मनुष्य ख्वार हो रहा है। मिथ्या मिथ्याको प्यार कर रहा है। झूठा झूठेके चक्करमें पड़ा है। रात-दिन उसीके मोहमें फँसा है और उसने अपने स्रष्टाको भुला रखा है। नश्वर प्राणी और पदार्थोंके मोहमें फँसकर मनुष्य अपने सिरजनहारको भुला बैठा है।

जब सारा जगत् चलनहार है, जानेवाला है, नश्वर है, क्षणभङ्गुर है, अस्थायी है, न टिकनेवाला है, तब फिर यहाँ किससे दोस्ती की जाय? किससे मैत्री की जाय? इस परिवर्तनशील जगत्में किस नाशवान् पदार्थसे, किस क्षणभङ्गुर प्राणीसे लगन लगायी जाय?

परम तत्त्व तो एक ही है। एक ही तो परम सत्य है और वह है परमेश्वर, प्रभु, वाहिगुरु। वही टिकनेवाला है। उसे छोड़कर और किसीसे मैत्री करनेका अर्थ ही क्या है? सारे मीठे पदार्थ सारे मधुमय विलास, सारे भोक्ता, मधु और मक्खियाँ—सभी तो नाशवान् हैं। सारे आकर्षण-विकर्षण, सारे मौज-मजे व्यर्थ हैं, झूठे हैं, क्षणस्थायी हैं; वे यों दिखायी तो पड़ते हैं, फिर भी हैं मिथ्या, धोखा हैं, जाल हैं। इस मायाके चक्रमें लोग डूब रहे हैं।

प्रभुको छोड़कर और सब कुछ मिथ्या है, क्षणभङ्गुर है, नाशवान् है।

मायाकी मोहनीमें फँसे हुए हम सब रात-दिन कुत्तोंकी तरह भौंक-भौंककर मरे जा रहे हैं—

कूकर सूकर कहीअहि कूड़िआरा।
भउकि मरहि भउ भउ भउ हारा॥
मनि तनि झूठे कूड़ु कमावहि।
दुरमति दरगह हारा हे॥

हम कुत्तोंकी तरह, सूअरोंकी तरह पापमें रात-दिन रचे-पचे रहते हैं। भयभीत रहते हैं। भौं-भौं करके मरते रहते हैं। हमारा मन भी झूठा है, तन भी। रात-दिन हम झूठके ही व्यापारमें डूबे रहते हैं। दुर्बुद्धिमें फँसे हुए हम प्रभुके दरबारमें जा ही नहीं पाते।

नतीजा क्या होता है? यही कि हमारा सारा जीवन व्यर्थ ही बर्बाद हो जाता है।

हीरे-जैसा जनमु है, कउड़ी बदले जाइ

रैणि गवाई सोइ कै, दिवसु गवाइआ खाइ॥
हीरे-जैसा जनमु है, कउड़ी बदले जाइ॥

सो-सोकर हम रात गँवा देते हैं, खा-खाकर दिन। खाना-पीना, सोना, भोग-विलास करना ही हमारे जीवनका लक्ष्य रह जाता है। जिस जीवनसे हम परमप्रभुको प्राप्त कर सकते हैं, उसी जीवनको हम भोग-विलासमें समाप्त कर देते हैं। हीरेको कौड़ियोंके मोल लुटा देते हैं।

पलभरके लिये भी हम गम्भीरतासे इस बातपर विचार नहीं करते कि हमें करना क्या था, हम कर क्या रहे हैं !

किया के आइआ, के जाइ किआ, फासहि जम-जाला ।
डोलु बधा कसि जेवरी आकासि पताला ॥

हम इस जगत्‌में क्या लेकर आये थे और क्या लेकर जा रहे हैं ? क्या हम कभी सोचते हैं इस प्रश्नपर ? यमराज-के फंदेमें फँसे हुए हम रात-दिन भवसागरमें गोते खाया करते हैं और अपने जीवनको कौड़ीके मोल लुटाते चलते हैं । कैसी दयनीय हालत है हमारी ।

प्रश्न है कि इस चक्रसे छुटकारेका भी कोई उपाय है ?

उपाय एक ही है—प्रभुके चरणोंकी शरण लेना । परमप्रभुके, अकाल पुरुषके, वाहिगुरुके चरणोंमें आत्म-समर्पण करना ।

सद्गुरुकी कृपासे प्रभुचरणोंमें स्थान मिलता है । उसीसे माया-मोहका चक्र छूटता है और ज्ञानकी प्राप्ति होती है, जिससे घट-घटमें उस साँईकी झाँकी देखनेको मिलती है, घट-घटमें उस प्रभुके दर्शन होने लगते हैं । गुरुकी कृपासे ही मरणका सच्चा दर्शन होता है । जीवनका सदुपयोग करनेके लिये, मायाके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये यही एकमात्र उपाय है कि हम उस परमप्रभुसे यह प्रार्थना करें कि 'हे मालिक ! तू हमें अपने चरणोंमें स्थान दे ।'

एक सम्मान्या बहनके पत्रके उत्तरमें नम्र निवेदन

सम्मान्या बहनजी !

सादर भगवत्स्मरण ।

आपका कृपापत्र मिला । यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि 'कल्याण' पढ़ते रहनेसे आपके मनमें छुटपनसे ही प्रभुपर विश्वास जम गया है और सुख-दुःख —दोनोंमें ही आप भगवान् शंकरको पुकारती रहती हैं । भगवान्‌की आपपर बड़ी कृपा है । बिना उनकी कृपाके उनपर विश्वास नहीं जमता । मैं आपसे अनुरोध करूँगा कि आप इस विश्वासको बढ़ाती रहें ।

(१) विश्वास बढ़ानेका अमोघ उपाय यही है कि आप सुख और दुःख—दोनोंमें ही उनकी कृपाका दर्शन करें । भगवान् हमारे-आपके—नहीं-नहीं—जीवमात्रके परम सुहृद् हैं । गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इसकी घोषणा की है । भगवान्‌से बढ़कर हमारा कोई भी हितू—सच्चा हित चाहनेवाला, निस्स्वार्थ हित चाहनेवाला नहीं है । अपने आत्मासे बढ़कर अपना हितू क्या कोई दूसरा हो सकता है ? और भगवान् हमारे आत्मा—हमारे आत्माके भी आत्मा, अपने-से-अपने हैं । अपने आत्मासे बढ़कर हमें कोई प्यार नहीं कर सकता । अमृतके सेवनसे चाहे मृत्यु हो जाय, परंतु भगवान् कभी—त्रिकालमें भी हमारा अहित करना तो दूर रहा, सोच भी नहीं सकते । वे अंशी हैं, हम उनके अंश हैं । वे हमारे पिता हैं, हम उनकी प्यारी संतान हैं । किसी भी हालतमें वे हमारा अहित कभी कर ही नहीं सकते ।

फिर हमारा वास्तविक हित किसमें है, इसे हम नहीं जान सकते । कारण, हमारी बुद्धि सीमित है, वह केवल वर्तमानको देखती है; हमारे आगे-पीछे क्या है, इसे समझने-की शक्ति उसमें नहीं है । जिसमें हम अपना हित समझते हैं, उसमें हमारा अहित भरा हो सकता है और जो स्थिति हमें अत्यन्त प्रतिकूल लगती है, वही हमारे लिये परिणाममें अत्यन्त हितकर सिद्ध हो सकती है । बालक आगको चमकीली वस्तु समझकर छूना चाहता है, तेज धारके छुरे या चाकूको लेकर उससे खेलना चाहता है । माता उसके रोनेकी परवा न करके उसे आगसे दूर हटा ले जाती है, चाकू अथवा छुरा यथासम्भव फुसलाकर और किसी प्रकार भी न माननेपर जबर्दस्ती छीन लेती है । शरीरमें फोड़ा हो जानेपर उसे निर्ममताके साथ योग्य सर्जनके पास ले जाकर चिरवा डालती है, चाहे बच्चा कितना ही उछले-कूदे, चिल्लाये-छटपटाये । इसी प्रकार भगवान्‌रूपा हमारी परम स्नेहमयी जननी—संसारकी समस्त माताओंके सम्मिलित हृदयमें लहरानेवाला वात्सल्य जिनके असमोर्ध्व वात्सल्य-रूपी अनन्त महोदधिकी एक बूँदके समान भी नहीं ठहरता—आवश्यक होनेपर हमारे परम हितके लिये हमारी प्यारी संतानको छीन लेती है, हमारा धन हर लेती है, हमारी सम्पत्ति कुर्क करवा देती है, हमें मृत्युका ग्रास बना देती है, बाढ़, अकाल, महामारी, अग्निकाण्ड आदिके द्वारा संहार-लीला करती है; परंतु उनकी इस क्रियामें हमारा

परमहित ही छिपा रहता है, जिसे हम अज्ञानी जीव समझ नहीं पाते और भगवान्‌को अन्यायी और क्रूर कहकर कोसने लगते हैं। परंतु भगवान् हमारे कोसनेकी परवा न करके हमारे हितके लिये हमारा ऑपरेशन (शल्यक्रिया) कर ही डालते हैं। विश्वमोहनीके स्वयंवरमें भगवान्‌से उनका रूप माँगनेपर भी उन्होंने देवर्षि नारदको अपना रूप नहीं दिया और अपनी कामनामें बाधा पड़नेपर क्रुद्ध होकर देवर्षि नारदने भगवान्‌को शाप दे दिया, जिसके कारण उन्हें श्रीरामरूपमें पृथ्वीपर प्रकट होकर पत्नी-वियोगका अपार दुःख सहना पड़ा। कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि भगवान् जो कुछ भी करते हैं, हमारे मङ्गलके लिये ही करते हैं, चाहे वैसी बात हमें दीखे नहीं; और उनके प्रतिकूल-से-प्रतिकूल विधानमें भी हमको प्रसन्न रहना चाहिये। भगवद्विश्वासका वास्तविक स्वरूप यही है और ऐसे भगवद्विश्वासी ही भगवान्‌को प्रिय होते हैं। अपने मनके प्रतिकूल भगवद्-विधानको विवश होकर सह लेना उससे हल्की बात है।

(२) आर्थिक संकटकी निवृत्तिके लिये आप विश्वास-पूर्वक श्रीशंकराचार्यकृत 'कनकधारास्तोत्र'का पाठ नियमित-रूपसे किया करें। ग्यारह पाठ प्रातःकाल बिना कुछ खाये-पीये कर सकें तो उत्तम है, अन्यथा एक ही पाठ बिना लाँघा कर लिया करें। आपने पाठ आदिका जो कार्यक्रम बना रखा है, वह सुन्दर है। उसे चालू रखें, परंतु नियमका भङ्ग न होने दें। जिस कामको हम महत्त्वपूर्ण समझते हैं, उसे कभी नहीं छोड़ते। शौच-स्नान, भोजन, निद्रा आदि जैसे हमारे जीवनके अनिवार्य अङ्ग हैं, उसी प्रकार भजन भी हमारे जीवनका आवश्यक अङ्ग बन जाना चाहिये।

आपके पतिदेव यदि यह आपत्ति करते हैं कि उस भजनसे क्या लाभ, जिससे पैसा न मिले तो आप उनसे यह पूछ सकती हैं कि क्या प्रत्येक कार्य जीवनमें पैसेके लिये ही किया जाता है ? बच्चोंका पालन-पोषण, उनको पढ़ाना-लिखाना क्या आप पैसोंके लिये करते हैं ? यदि उनके माता-पिता जीवित हैं तो उनकी सेवा क्या वे पैसेके लिये करते हैं ? क्या दीन-दुःखियोंकी, अनाथोंकी, अपाहिजोंकी, भूखों-प्यासोंकी, रोगियोंकी, आपद्ग्रस्तोंकी सेवा पैसेके लिये की जाती है ? मनुष्यको भगवान्‌ने विवेकशक्ति दी है, जो दूसरे जीवोंमें नहीं है। मनुष्य जगत्‌में कुछ कर्तव्य लेकर आता है, उन कर्तव्योंका पालन उसे करना ही चाहिये। मनुष्यको अपने जीवन-निर्वाहके लिये दूसरोंकी सहायता अनिवार्यरूपसे लेनी पड़ती है। इसी ऋणको चुकानेके लिये उसे भी यथासामर्थ्य दूसरोंकी सहायता करनी चाहिये। भगवान्‌ने उसे मनुष्यका जीवन दिया है, जिसके द्वारा वह भगवान्‌को पा सकता है तथा हवा, पानी, प्रकाश और विविध खाद्य-पदार्थ दिये हैं। बदलेमें उसका भी कर्तव्य होता है कि वह भगवान्‌को कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करे, उनकी आराधना करे, बंदगी करे, उनसे सद्बुद्धि माँगे, दया, क्षमा, प्रेम आदि मनुष्योचित गुणोंको माँगे। संसारमें पैसा ही सब कुछ नहीं है। पैसा भी भगवान् सबको अपनी-अपनी आवश्यकताके अनुरूप कर्मानुसार जितना उचित समझते हैं, देते ही हैं। कामना और आवश्यकताका तो कोई अन्त ही नहीं है। जितना अधिक जिसके पास है, उसकी भूख भी उतनी ही अधिक है; किसी कामनाकी पूर्ति तो सम्भव ही नहीं है। किसीकी तृप्ति पैसोंसे अथवा विषय-भोगसे कभी हुई ही नहीं। किसीसे भी पूछकर देख लीजिये, कोई भी अपनी स्थितिसे संतुष्ट नहीं है। वास्तवमें शान्ति संतोषसे ही मिलती है, अपनी आवश्यकताओंको कम करनेसे मिलती है।

(३) शंकर, राम, कृष्ण, माँ दुर्गा—सभी भगवान्‌के स्वरूप हैं। सभीकी आराधना हम कर सकते हैं, परंतु आराध्य अथवा इष्ट हमारा एक ही होना चाहिये—यह सत्य है। पतिव्रता स्त्रीके लिये पति ही परमेश्वर है। वह पतिके नाते अपने सास-श्वशुर, ननद, जेठ-जेठानी, देवर-देवरानी, पुत्र-पुत्री, पतिके अन्य सम्बन्धी, मेहमान आदि सबकी सेवा आवश्यकता एवं योग्यताके अनुसार समय-समयपर करती है, सबको आदर देती है, सबका सम्मान करती है, स्नेह भी देती है; परंतु जीवन-प्राण उसके अपने पतिको ही समर्पित रहते हैं। पतिका स्थान वह किसीको नहीं देती, वह तो उन्हींके लिये सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार पूजा-अर्चा, स्तुति आदि हम सभी भगवत्स्वरूपोंकी कर सकते हैं; परंतु हमारे सर्वस्व तो उनमेंसे एक ही हो सकते हैं, सब नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी विनय-पत्रिकामें वन्दना गणेशकी, शिवकी, कालिकाकी, सूर्यकी—सबकी की है, पर सबसे माँगी है—रामके चरणोंमें रति। यही बात सबके लिये लागू होती है।

(४) आपने लिखा कि पतिका, गृहस्थीका, बच्चोंका—सब प्रकारका सुख रहनेपर भी आत्मा भटकती

रहती है; आप सबके बीचमें रहकर भी अकेलेपनका, सूनेपनका अनुभव करती हैं—यह ठीक ही है। धन, पुत्र, पतिमें सुख नहीं है। इनमेंसे कोई भी वास्तवमें अपना नहीं है। ये सब हमसे एक दिन छूट जायँगे, यहाँतक कि यह शरीर भी, जिसे हम सबसे अधिक अपना—नहीं-नहीं, अपना स्वरूप, अपना आप ही मानते हैं, जिसके पीछे ये सारे सम्बन्ध-हमने मान रखे हैं, नहीं रहेगा। फिर जगत्में हमारा कौन है? किसलिये यह माया-जाल हमने फैला रक्खा है? हम इसमें क्यों फँसे हैं? एकमात्र भगवान् ही हमारे हैं, वे ही हमारे सच्चे सम्बन्धी—हमारे अपने हैं, और कोई भी अपना नहीं। अतः भगवान्‌के साथ कोई भी सम्बन्ध हम जोड़ लें, वे सभी सम्बन्ध मान लेंगे। हम उन्हें पुत्र मान सकते हैं, पिता मान सकते हैं, भाई मान सकते हैं, पति मान सकते हैं, गुरु मान सकते हैं, सखा मान सकते हैं। उनका यह उद्घोष है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

(गीता ४। ११)

'जो जिस भावसे मुझे भजते हैं, मैं उनको उसी रूपमें स्वीकार कर लेता हूँ।' ऐसे प्रभु, जो हमारे सब कुछ बननेको तैयार हैं, उनको पा लेनेमें ही हमारे जीवनकी सार्थकता है। अन्यथा भोग तो सभी योनियोंमें मिल सकते हैं।

(५) शरीरको नीरोग रखनेके लिये आप **'अच्युताय नमः, अनन्ताय नमः, गोविन्दाय नमः'**—इस मन्त्रका जप किया करें। आयुर्वेदके मूलप्रवर्तक भगवान् धन्वन्तरिका वचन है—

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

'अच्युत, अनन्त, गोविन्द—इन भगवन्नामोंके उच्चारणरूप औषधसे सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं, यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ।'

बीमारी आदि जितने भी कष्ट हैं, सब हमें अपने ही पूर्वकृत कर्मोंके फलरूपमें मिलते हैं। भगवान्‌की पूजासे तो हमारे दुष्कृतोंका नाश होता है; अतः लोगोंका यह कहना कि तुम जितनी ही पूजा करती हो, उतनी ही बीमार पड़ती हो, उनकी नासमझीके कारण है। उनकी इस उक्तिपर ध्यान नहीं देना चाहिये।

शेष भगवत्कृपा!

आपका भाई,
चिम्मनलाल गोस्वामी

विवेकी पुरुषका कर्तव्य

साहरे हत्थपाए य, मणं प चेन्द्रियाणि य। पावगं च परीणामं भासादोसं च तारिसं॥

विवेकी पुरुष अपने हाथ-पाँव, मन और पाँचों इन्द्रियोंको वशमें रखे। दुष्ट मनोभाव और भाषादोषोंसे अपनेको बचावे।

भासमाणो न भासेज्जा, णेव वम्फेज्ज मम्मयं। मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा अणुचिन्तिय वियागरे॥

वह बोलते हुएके बीच नहीं बोले, मर्मभेदी बात न कहे, माया-भरे वचनोंका परित्याग करे। जो बोले सोचकर बोले।

अप्पपिण्डासि पाणासि अप्पं भासेज्ज सुव्वए। खन्ते भिनिव्वुडे दन्ते वीतगिद्धी सया जए॥

सुव्रती पुरुष अल्प खाये, अल्प पीये, अल्प बोले। वह क्षमावान् हो, लोभादिसे निवृत्त हो, जितेन्द्रिय हो, गृद्धि-रहित—अनासक्त हो तथा सदाचारमें सदा यत्नवान् हो।

न बाहिरं परिभवे अत्ताणं न समुक्कसे। सुयलाभे न मज्जेज्जा जच्चा तवसि बुद्धिए॥

विवेकी पुरुष दूसरेका तिरस्कार न करे, न अपनी बड़ाई करे। अपने शास्त्र-ज्ञान, जाति और तपका अभिमान न करे।

—महावीर स्वामी

साधक कमलाकान्त

(लेखक—श्रीरामलाल)

शस्यश्यामला वङ्गभूमिके निवासियोंके हृदयमें भगवती कालीकी उपासनाकी सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। महात्मा रामप्रसाद सेन, साधक कमलाकान्त और श्रीरामकृष्ण परमहंसने शक्तिकी उपासना-समृद्धि बढ़ानेमें असाधारण योगदान दिया। तीनों-के-तीनोंने जगदीश्वरीके चरणकमलोंमें मन संस्थितकर त्राणकी याचना की। कमलाकान्तने निवेदन किया—

उमे! त्राण दे मा शिवे! त्राण दे।
तृषित चातक मत निरखि नव घन तव चरण गो।
आमि दुराचारी, शरण तोमारि, निस्तार ए घोर भवे॥
तुमि जननी, जनम-हारिणी, सृष्टि-स्थिति-संहारिणी।
हे कङ्काले! शशधरभाले! गिरिजा भवानी भवे॥
जया प्रचण्डा शमन-दलनी 'कमलाकान्त' कृतान्तभये।
त्राहि महेशि! विगलितकेशि, तरि भवराणि, भवे॥

'हे माँ पार्वती! उमादेवि! आप मेरी रक्षा कीजिये। मैं प्याससे विकल चातककी तरह आपके चरणरूप नवजलदकी ओर आशापूर्ण दृष्टिसे देखता हूँ। मैं दुराचारी-पापी हूँ, फिर भी आपके शरणागत हूँ; इस भीषण संसारसे आप मुझे उबार लीजिये। हे माँ! आप मोक्षदायिनी हैं, आप सृष्टि, पालन और संहार करनेवाली महाशक्ति हैं। आप मुण्डोंकी माला धारण करनेवाली हैं, आपके भालमें बालचन्द्र शोभित है; आप पार्वती हैं, भवानी हैं, भगवान् शिवकी अभिन्न आत्मा हैं; आप जया हैं, आप विकरालरूपधारिणी—प्रचण्डा हैं। आप ही कालका भी संहार करनेवाली महामाया हैं, मुझे यमके त्राससे उबार लीजिये। हे खुले केशोंवाली करालवदना! शिवकी हृदयेश्वरी! मैं मृत्युरूपी संसार-सागरसे आपकी कृपासे पार उतरनेमें समर्थ हूँ, मेरी रक्षा कीजिये।' साधक कमलाकान्तने जगदीश्वरीके चरणोंमें अपने हृदयकी भक्ति उँडेलकर तथा उनकी आराधना कर भवसागरमें मृत्युभयसे त्राण पाया।

साधक कमलाकान्तका जन्म बर्दवान जनपदमें भगवती गङ्गाके तटपर स्थित अम्बिका कालना ग्राममें बंगीय संवत् ११७० में एक ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। पाँच सालकी ही अवस्थामें उन्हें पिता छोड़कर परलोक चले गये। कमलाकान्त दो भाई थे। माँने बड़े स्नेहसे उनका पालन पोषण किया। उनकी जीविका यजमानी वृत्तिसे चलती थी। भू-सम्पत्तिका अभाव था। अम्बिका कालनासे जीवन-निर्वाहके लिये माँके साथ कमलाकान्त अपने मामा नारायणचन्द्र भट्टाचार्यके घर चान्ना ग्राम चले आये। चान्नामें ही उनकी शिक्षा-दीक्षा सम्पन्न हुई। अपनी माँके चरणोंमें साधक कमलाकान्त बड़ी श्रद्धा-निष्ठा रखते थे। वे उनकी प्रत्येक आज्ञाका पालन बड़ी तत्परतासे करते थे। उन्होंने एक बार बाल्यकालमें ही माँके प्रति निवेदन किया था—'माँ! आप मेरे लिये साक्षात् आनन्दमयी जगदम्बा हैं। मैं उन्हें और आपको सर्वथा अभिन्न मानता हूँ।'

उन्होंने माँकी आज्ञाके अनुसार लाकुडी ग्रामके एक सुपात्र ब्राह्मणकी कन्याका पाणिग्रहण कर गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया। वे जगदम्बाकी साधनामें लग गये। चान्ना ग्राम खन्नेश्वरी नदीके तटपर स्थित है। उस ग्राममें विशालाक्षी देवीके मन्दिरमें बैठकर वे जगदम्बाके चरण-कमलोंमें निवेदन किया करते थे—'माँ! आपके चरणाम्बुज देख-देखकर मैं प्राणधारण करता हूँ। इस संसारमें आपको छोड़कर कोई दूसरा अपना है ही नहीं।' उनकी देवीके प्रति संस्तुति है—

अनुपम रूप, अनूप श्यामातनु हेरिये नयन जुड़ाय।
सजल कादम्बिनी जिनिये कुन्तल, तार माझे सौदामिनी खेलाय॥
अञ्जन अधरे अतसी मुकुता फल, नीललोहित पद्म भ्रमे अलिकुल धाय।
क्षणे-क्षण हास्य कटाक्ष-शरे शिवेर मन सहजे भुलाय॥
मृगाङ्क अरुण चरण-नख-किरणे, रक्तोत्पल जिनि पदतल ताय।
कमलाकान्त अन्त ना जाने गुण श्रीचरण, मानव कि पाय॥

'कालीका रूप अनुपम है। श्यामाके अनूप शरीरको देखकर नेत्र शीतल होते हैं। उनके पूरे शरीरको वेष्टित किये हुए काले-काले केश-जालमें उनका रूप ऐसा दीख पड़ता है, मानो सजल मेघमालामें दामिनी चमक रही है। उनके अधरकी लालिमा तीसीके फूल और मुक्ताफलकी शोभा धारण करती है; नीले और लाल कमल समझकर भ्रमर-समूह अधरोंकी ओर दौड़ पड़ता है। क्षण-क्षण निरन्तर श्यामाकी मन्द-मन्द मुसकान और कटाक्ष-शरसे (मनसिजको भी भस्म करनेवाले) शिवका मन अनायास ही मुग्ध हो उठता है। अरुणवर्णके नखोंकी किरणोंकी चन्द्रमाके समान शुभ्र ज्योतिसे आवेष्टित जगदीश्वरीके पदतल ऐसे दीख पड़ते हैं, मानो (स्वच्छ जलधारामें)

लाल वर्णके कमल विकसित हों। कमलाकान्तका कथन है कि भगवतीके श्रीचरणोंके गुण-महत्त्वका मर्म स्वयं कमलाकान्त (विष्णु) भी नहीं समझते; तब भला, साधारण मनुष्य मैं क्या समझ सकता हूँ।'

अपनी माँके आग्रहसे वे सपरिवार आर्थिक संकट दूर करनेके लिये अम्बिका कालना चले आये। उस गाँवमें उनके धनी-मानी शिष्य रहते थे। थोड़े समयके बाद माँ रोगग्रस्त हो गयीं। माँने समझाया कि 'मेरे देहावसानके बाद तुम्हें पूरे परिवारके प्रतिपालनमें लगे रहना चाहिये; वैराग्य नहीं ग्रहण करना चाहिये।' उन्होंने माँकी इस आज्ञाका जीवनभर पालन किया। माँकी मृत्युके बाद वे पुनः चान्ना चले आये। वहाँ उनकी पत्नीका भी देहान्त हो गया। उन्होंने घरका प्रबन्ध भाईके हाथमें सौंप दिया और स्वयं देवीकी उपासनामें लग गये; पर माँकी आज्ञाके अनुसार उन्होंने कभी घरका त्याग नहीं किया। उन्होंने देवीके चरणोंमें निवेदन किया—

आमारके आछे, करुणामयी।
ओ पदे विपद नाशे, नितान्त भरसा ओइ।
कखन-कखन मने करि, धन-परिजन कोथा रवे॥
कोथा रवे, से भाव थाकये कै। मजिये विषय-विषे,
दिन गेल रिपु-वशे, आपनारि क्रिया दोषे॥
अशेष यन्त्रणा सइ।
सुकृति ये जन, से साधने पावे श्रीचरण,
अकृति अधम आमि, कि गति तारिणी वइ।
कमलाकान्तेर आश, हवे तव पदे दास,
किंतु मम मन अवश, आमि त तादृश नइ॥

'हे करुणामयी माँ! यहाँ—इस जगत्‌में मेरा कौन है? आपके चरणोंमें ही मेरी विपत्तिका नाश होगा; मुझे तो एकमात्र आपके चरणोंका ही भरोसा है। कभी-कभी यह बात मनमें आती है कि धन और परिवारके लोग रहेंगे क्या? क्या वे इसी तरह सदा बने रहेंगे? विषय-विषमें अनुरक्त होनेके नाते मेरे दिन काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि शत्रुओंकी अधीनतामें बीत गये; मैं अपने ही कर्मोंके दोषसे सारी यातनाएँ सहता हूँ। जो पुण्यात्मा है, वह साधनके द्वारा आपके श्रीचरणकी प्राप्ति कर पाता है; किंतु मैं तो पापी और अधम हूँ, साधनहीन हूँ। मेरा तो आपको छोड़कर कोई दूसरा है ही नहीं। मैं तो यही आशा लगाकर बैठा हूँ कि मैं आपके चरणोंका दास बनूँगा; परंतु मनपर मेरा अधिकार नहीं है। वह अत्यन्त चञ्चल है। मैं आपका दास भी बननेयोग्य नहीं हूँ।'

महात्मा कमलाकान्तका सम्पर्क चार व्यक्तियोंके लिये बड़े महत्त्वका कहा जाता है। वे थे विश्वेश्वर डाकू, शिष्य केनाराम चट्टोपाध्याय और बर्दवानके महाराजा तेजचाँद तथा उनके पुत्र युवराज प्रतापचाँद। साधक कमलाकान्तके चरणदेशमें उन चारोंकी प्रणति अपने-अपने ढंगसे निराली थी। विश्वेश्वर—विशु प्रसिद्ध डाकू था। एक समयकी बात है। कमलाकान्त गैरिक परिधान धारणकर खड्गेश्वरी नदी पारकर चान्नासे सात-आठ कोसकी दूरीपर स्थित अमरारगढ़ स्थानपर अपने शिष्य केनारामसे मिलने जा रहे थे। कई गाँवोंको पारकर ओड़ग्रामके निकट पहुँचते ही उन्होंने देखा कि कई लोग उनका पीछा कर रहे हैं। शाम हो गयी थी। पश्चिममें लालिमा थी। सूर्य अस्ताचलको जा चुके थे। वे तनिक भी भयभीत नहीं हुए। वे गीत गाकर जगज्जननीका स्मरण करने लगे—

आर किछु नाइ श्यामा, तोमार केवल दुटि चरण रांगा।
शुनि ताओ नियेछेन त्रिपुरारी, अतेव हलेम् साहस भांगा॥
ज्ञातिबन्धु सुत-दारा, सुखेर समय सबाइ तारा।
विपद-काले केउ कारो नय, घरवाड़ी ओड़गाँयेर डांगा॥
निज गुणे यदि राख, करुणा-नयने देख,
नइले जप करे ये तोमाय, पाओया से सब कथा भूतेर सांगा।
कमलाकान्तेर कथा, मारे बलि मनेर व्यथा,
जपेर माला, झूलि, काँथा, जपेर घरे रइल टांगा॥

'हे श्यामा! आपके लाल-लाल कोमल दोनों चरणोंके सिवा मेरे लिये और कुछ भी नहीं है। सुनता हूँ कि उन्हें भगवान् शंकरने पहलेसे अपने अधिकारमें कर लिया है, मैं इससे हतोत्साह हो उठा हूँ। ये सब जाति-भाई, सुत-स्त्री आदि सुखके समयके साथी हैं, विपत्तिके समयमें कोई किसीका भी नहीं होता। घर-बाड़ी तथा इस ओड़गाँवकी ऊँची भूमि भी अन्त समय मेरा साथ नहीं देगी। आप अपने स्वभाव-गुणसे ही अपना बना लेती हैं। यदि इस गुणके वशीभूत होकर मुझे अपना लेती हैं तो मुझपर कृपा-दृष्टि कीजिये। जप करनेसे आपकी प्राप्ति नहीं हो सकती; यह तो भूतको सिद्ध करनेकी-सी बात है, मुख्य वस्तु तो आपकी करुणा है। माँ! मैं तो अबोध बालक हूँ, केवल माँसे ही अपने मनकी व्यथा कहता हूँ। माँकी कृपा मिलेगी ही। जपमाला, झोली, गुदड़ी तो जपके घरमें टँगी-की-टँगी ही है। मुझे तो आपकी ही करुणाका भरोसा है।'

विशु डोमपर उनके उपर्युक्त भक्तिपूर्ण गानका प्रभाव पड़ा। वह विमुग्ध हो गया। 'आप कौन हैं?' विशुका प्रश्न था। साधक कमलाकान्तने कालीके किंकरके रूपमें अपना परिचय दिया।

'कमल ठाकुर!' विशु चकित हो गया। दौड़कर उसने कमलाकान्तके चरण पकड़ लिये। विशु डाकूके साथी आश्चर्यमें पड़ गये। विशुने साथियोंसे कहा कि 'मैं तुम लोगोंका साथ नहीं दे सकता। कमल ठाकुरके चरण जीवन-भर नहीं छोड़ सकता। कालीका नाम ही मेरा मन्त्र है।' कमलाकान्तके भी समझानेपर वह घर नहीं गया और आजीवन उन्हींकी सेवामें रहकर उसने जगदीश्वरीकी आराधना की। बंगालका अभिनव अङ्गुलिमाल सदाके लिये धर्म और वैराग्यकी शरणमें आ गया, शक्तिका उपासक हो गया।

केनाराम चट्टोपाध्याय अमरारगढ़के निवासी थे। कमल ठाकुरमें उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा और निष्ठा थी। वे कभी-कभी चान्ना आकर विशालाक्षीके मन्दिरमें साधक कमलाकान्तसे मिला करते थे। कमल ठाकुर केनारामको अपनी कृपा और स्नेह-वृष्टिसे कृतार्थ करनेके लिये अमरारगढ़ जाया करते थे।

बर्दवानके महाराजाकी साधक कमलाकान्तके चरणदेशमें महती अभिरुचि थी। महाराजाके बड़े अनुरोधपर उन्होंने बर्दवानमें बाँका नदीके तटपर स्थित कोटालहाटमें नवनिर्मित श्यामा-मन्दिरमें रहना स्वीकार कर लिया। एक दिन महाराजाके मनमें यह संदेह उठनेपर कि मिट्टीकी मूर्तिसे किस तरह देवी-शक्तिका आविर्भाव हो जाता है, कमल ठाकुरने समझाया कि सभी वस्तुओंमें महाशक्तिका अस्तित्व है, इसका साक्षात्कार करना अनेक जन्मोंके पुण्यका फल है, जन्म-जन्मके भाग्योदयका प्रतीक है। सच्चिदानन्दरूपका 'सोऽहं' भावमें उदय होनेपर महाशक्तिका आविर्भाव समस्त वस्तुओंमें प्रतीत होता है।

साधक कमलाकान्तका जीवन पूर्णरूपसे जगदम्बाके चरणोंमें समर्पित था। एक बार उनके अस्वस्थ हो जानेपर महाराजा तेजचाँद उन्हें देखने गये। वे मिट्टीसे बने कच्चे घरमें रहते थे। महाराजाकी इच्छा थी कि घर पक्का बन जाय तो शरीर ठंडक आदि ऋतु-विकारोंसे कम प्रभावित होगा। कमल ठाकुरने बड़े ही संतोषसे कहा कि 'मेरी माँ श्मशानमें रहती हैं, कङ्काल ही उनके आभूषण हैं। अब आप ही सोचिये कि मुझे पक्के घरकी आवश्यकता है या नहीं।' इसपर महाराजाने और आग्रह नहीं किया। चलते समय केवल यह निवेदन किया कि यदि किसी वस्तुकी आवश्यकता हो तो सेवामें अविलम्ब भेज दी जाय। कमल ठाकुरने कहा कि 'एक मिट्टीका कोसा चाहिये; पहला थोड़ा-सा फूट गया है, इसलिये पानी पीते समय जल गिर जाता है।' महाराजा आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने कमल ठाकुरकी चरण-धूलि सिरपर चढ़ाकर उन्हें प्रणाम किया और चले गये।

कमलाकान्तके जीवनमें बड़ी-बड़ी महत्त्वपूर्ण घटनाओंका समावेश पाया जाता है। एक समयकी बात है, वे अमरारगढ़में थे। केनाराम कहीं बाहर गये थे। कमलाकान्त श्यामा-घरमें बैठकर देवीका चिन्तन कर रहे थे। केनारामकी लड़कीने कहा कि 'बाबा! आज जलानेकी लकड़ी नहीं है।' उसे इस बातका पता नहीं था कि उसके पिता कहीं बाहर चले गये हैं। कमल ठाकुर विशुको साथ लेकर ईंधन लेने चल पड़े। हाथमें टाँगी थी। लौटते समय लोगोंने देखा कि हाथमें टाँगी लेकर ठाकुर आगे-आगे चल रहे हैं और विशु कंधेपर ईंधन रखकर उनके पीछे-पीछे आ रहा है। गाँवके लोग इस असाधारण घटनासे आश्चर्यमें पड़ गये। चारों ओर इसी बातकी चर्चा थी। केनारामने घर आकर बड़ा पश्चात्ताप किया।

अपने कोटालहाटवाले निवास-स्थानमें ५३ सालकी अवस्थामें बँगला संवत् १२२३ में उन्होंने महाप्रस्थान किया। उनका एक पद है—

> आमार गति कि हवे, तारा जाने, मा जाने।
> तारा बिने आर, इहकाल, परकालेर कथा के जाने॥
> आमि यत निपुण साधने, विदित जननीर चरणे।
> कत दिने हवे त्राण, कमलाकान्तेर ए मोर भवबन्धने॥

'मेरी क्या दशा होगी, यह बात तारा जानती है, माँको भी ज्ञात है। इस समयकी एवं दूसरे समय—भूत, भविष्य-कालकी बात माँके सिवा दूसरा कौन जान ही सकता है। मैं साधनमें कितना सफल हूँ, यह बात जननीके चरणोंपर प्रकट है। न जाने कितने दिनोंमें इस भवबन्धनसे मेरा उद्धार होगा?'

बङ्गीय शक्ति-साधनाके क्षेत्रमें साधक कमलाकान्तका नाम अमर है। उन्होंने जगज्जननी जगदीश्वरी महाकालीके चरणामृत-रसकी प्राप्तिमें जीवन सार्थक किया।

दानका महत्त्व

(ले०—प्रभु-प्रेम-प्यासी एक दासी)

इसलिये हे पार्थ ! यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी सम्पूर्ण कर्म, आसक्ति और फलोंको त्यागकर, अवश्य करने चाहिये—ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है । (गीता १८ । ६)

हम नित्य गीताका पाठ करते हैं, गीता पढ़े बिना भोजन नहीं करते, लेकिन अगर पढ़ेपर विचार नहीं करते, पढ़े-अनुसार आचरण नहीं करते तो व्यर्थ है सारी पढ़ाई-लिखाई, चतुराई-निपुणाई । नित्य पढ़ते हैं, 'दान' देना चाहिये ! बताओ, कितना दान करते हो अपनी कमाईमेंसे !

'पेट ही नहीं भरता, दान कहाँसे दें ?' किसी दूसरेका पेट नहीं भरा कभी तो तुम्हारा पेट कभी नहीं भर सकता । लगा लो जोर एड़ी-चोटीका ! यह 'दैवी नियम' है, इससे कोई व्यक्ति बच नहीं सकता । अपना दिया ही वापस मिलता है समयानुसार— बल्कि लाखों गुना बढ़कर ! देना ही नहीं तो मिले क्या !

सब गुरुके सिक्खोंको हुक्म है कि अपनी कमाईमेंसे 'दसवंद' निकालो । कमाईका दसवाँ हिस्सा दान करो । कितने सिक्ख हैं, जो इतना दान करते हैं ? गुरुदेव तभी प्रसन्न होते हैं, जब हम गुरुके आदेशानुसार कार्य करें । दसवाँ हिस्सा नहीं दे सकते तो जितना दे सकते हो, उतना ही सही । कुछ-न-कुछ नियमसे आयमेंसे दान देना अवश्य चाहिये । बूँद-बूँदसे भी घड़ा भर जाता है । दानका महत्त्व ज्ञात होनेपर ही दानका ख्याल मनमें उठता है । (ख्याल आते ही उसी वक्त अवश्य दे देना चाहिये । बादमें, हो सकता है, ख्याल बदल जाय ।) सबसे पहले हमें मालूम होना चाहिये कि दान अवश्य कल्याण करता है । चाहे उसी वक्त. बदलेकी भावना न भी हो, कर्त्तव्यभावसे दिया गया दान अवश्य फलीभूत होता है—अपने समयपर ! पिछले जन्मोंमें हम जो दे चुके हैं, वही ले रहे हैं इस जन्ममें ।

मरकर तो सभी छोड़ जाते हैं; दान वह है जो अभी हाथसे दिया जाय—देश काल और पात्र देखकर, प्रत्युपकार न करनेवालेके लिये दिया जाय । (गीता १७ । २०)

जब प्राण देहसे छूटने लगते हैं, तब अक्सर दानकी याद आती है—वह भी किसी विरलेको ! 'शायद दान देनेसे कुछ साँस और आ जायँ । कौन जाने, अभी भी बच जायँ ! सारा धन दे दिया तो फिर खाऊँगा क्या ?' यह ख्याल आते ही बस, दानका गला घुट जाता है !

'जाते-जातेसे ही कुछ दान तो करवा दो ।' ऐसा दान देनेवालेके काम भले ही आ जाय, जानेवालेको कोई लाभ नहीं पहुँचाता । प्यास लगनेपर कुआँ खुदवानेपर प्यास बुझेगी क्या ? ठीक समयपर बोया हुआ बीज ही पनपता है ।

सिकंदरने बेहिसाब दौलत जमा कर ली ! जाने लगा तो पता चला, यह तो यहीं रह जायगी सारी ! चलो ! मेरी आँख नहीं खुली समयपर, औरोंकी तो खोलता जाऊँ ! बोला—'मेरे मरनेके बाद मेरे दोनों हाथ कफनसे बाहर रखना, जिससे देखनेवालोंको पता चले कि 'सिकंदरके हाथ खाली, दोनों कफनसे निकले ।'

सब लोगोंको ज्ञान तो बेहिसाब है कि साथ कुछ नहीं जानेका । वही साथ जायगा, जो हाथसे दिया गया । फिर भी किसी विरले भाग्यवान्‌को ही दानका ख्याल आता है । 'खा लो, पी लो, मौज उड़ा लो । पड़ोसी चाहे भूखा मरे, तुम ऐश करो ।' जब दुःख आता है, तब रोते हैं चीख-चीखकर ! दुःख, रोग, पीड़ा, अशान्ति क्यों है इतनी संसारमें ! स्वार्थ भरा है कूट-कूटकर हर दिलमें । अपनी ही फिक्र है, दूसरेका ख्याल नहीं । दूसरेका दुःख दूर करनेवालेको दुःखका मुख नहीं देखना पड़ता !

हम सब एक पिताकी संतानें हैं । एक पुत्र तो धनमें लोटे, दूसरा दूसरोंको लूटे, तीसरा एक लोटे जलके लिये तरसे, यह नहीं बरदाश्त होता परमपिता प्रभुको ! धनवान् अपना धन निर्धनोंमें बाँटकर खाय, तभी पिता प्रसन्न होता है । पिता कहीं दूर नहीं बसता टीबोंपर ! वह हर हृदयमें बैठा है, 'बहीखाता' लिये ! हर हरकत नोट करता है !

बेशक दान जरूरत-मन्दकी जरूरत पूरी करनेके लिये दिया जाता है, परंतु न चाहते हुए भी देनेवालेका कल्याण

करता है अपने-आप । दूसरेके लिये नहीं देना, अपनी तो फिक्र है तुम्हें ! अपने लिये तो दो । तुम्हें वही चीज़ मिल सकती है, जो तुम दे दोगे ! धन चाहते हो ? तो धनका दान करो । बढ़िया खाने, बढ़िया पोशाकें चाहते हो तो खिलाओ भूखोंको, ढक दो नंगे ठिठुरते तन-बदन । तुम्हारी पोशाकें अपने-आप तैयार होकर तुम्हारी प्रतीक्षा करेंगी । छत्तीस व्यञ्जन तुम्हारी थालीपर सज जायँगे । रोगसे बचना चाहते हो तो रोगियोंको दवाइयाँ दान करो, तुम रोगोंसे बचे रहोगे ! लेकिन तुम अपने रोगपर तो हँसके खर्च करते हो, दूसरेके दर्दकी तरफ़ ध्यान ही नहीं देते तो कैसे हो तुम्हारा कल्याण ? क्या यह सौदा पसंद नहीं कि तुम्हारा रोग कोई दूजा भुगते, तुम्हारे धनसे और तुम रोगकी पीड़ासे बच जाओ ? दानमें प्रत्युपकारके भावका निषेध है, लेकिन बचोंसे कई बार 'लालच' देकर ही काम लिया जाता है । उल्टा-सीधा, जैसा भी बीज पड़े धरतीपर, उगता ज़रूर है । किसी भी भावसे किया गया दान कल्याण ज़रूर करता है । लेनेवालेको सुख मिलता है, देनेवालेको आनन्द आता है । आनन्द लिया नहीं जाता, अपने-आप आता है आनन्दकन्द भगवान्‌की कृपासे । गीतामें भगवान् कहते हैं—'जो केवल अपने लिये पकाता है, वह तो केवल पाप ही खाता है ।' इन्सान होकर, इन्सानके ढंगसे खाओ—भूखेको बाँटकर ! अपने बच्चोंको तो सभी खिलाते हैं । खिलाता है वह, जो दूसरेके बच्चोंको खिलाये । अपने लिये तो सभी जीते हैं । जीना वही है, जो दूसरोंके लिये जीया जाय ! बाँटकर खानेवाला 'अमृत' खाता है । बाँटकर खानेवालेके भंडार कभी खाली नहीं होते । देकर खानेवालेके घर रोग नहीं आता । खिलाकर खानेवाला आनन्दमें झूमता है । क्या खायें ? भूख ही नहीं लगती ! खाते हैं तो हजम नहीं होता । गोलियोंके साथ खाना हजम करते हैं । भूखकी गोलियाँ खाते हैं, नींदकी गोलियाँ खाते हैं । बाँटकर न खानेवाले दुश्मनकी गोलियाँ भी खाते हैं । गाँठको बाँधकर रखनेवालोंको गठिया-जैसे रोगोंसे तड़पना पड़ता है । जिन्हें भूख ही नहीं लगती, उन्हें, भला, खानेका 'स्वाद' खाक आता होगा ! खानेका आनन्द केवल उसीको आता है, जो दूसरेका दर्द बाँटता है । गरीब, जो दो रोटियोंमेंसे भी आधी दे देता है, वह रोटीका भी आनन्द लेता है और नींदका भी मज़ा लूटता है ।

अपने सुखके लिये तो दान करो । दूसरेको सुख पहुँचाओ दानद्वारा । दूसरेकी ज़रूरत पूरी करोगे तो तुम्हारी ज़रूरत अपने-आप पूरी होगी ।

किसी एक मुल्कका रिवाज़ था कि हर राजाको पाँच साल बाद छुट्टी हो जाती थी । उसे राजधानीसे बाहर निकाल दिया जाता था । प्रजा बहुमतद्वारा एक योग्य व्यक्तिको अपना राजा नियुक्त कर लेती थी । पाँच साल बाद दोबारा चुनाव होता था । एक बार एक 'प्रवीण' नामक बुद्धिमान् राजा बना । उसने सोचा—'अच्छा ! तो पाँच साल बाद मेरा भी वही हाल होगा, जो कइयोंका हुआ । इसका तो कोई इलाज होना चाहिये । इस समय तो मैं राजा हूँ । मेरा हुक्म चलता है । सारे साधन मेरे पास हैं । सारा धन मेरा ! जन-जन मेरा !' उसने अपने लिये एक नया शहर बसाना शुरू कर दिया । शानदार सजे हुए महल, बाग-बगीचे, ताल-तालाब, हर चीज जो उसे चाहिये थी, वहाँ पहुँचा दी, बनवा दी । हजारों लोगोंको लगाकर शानदार शहर बनवा दिया । इधर वह हुकूमतकी मौज लूटता रहा, उधर शहर तैयार होता रहा । पाँच साल पूरे होनेपर हँसता-हँसता सिंहासनसे उठकर आरामसे अपने नये महलमें जा लेटा । यह है बल बुद्धिका । उसने अपना 'प्रवीण' नाम सार्थक कर दिया ।

बेशक मरनेके बाद हमारे साथ कुछ नहीं जा सकता; लेकिन दूरदर्शी वह है, जो इस शरीरके रहते अगलेका अभीसे फिक्र करे । जो चीज़ चाहिये, अभी दे दे । अगले जन्ममें वह अपने-आप मिलेगी । एक मनुष्य-शरीरमें ही अपना कल्याण हो सकता है । भगवत्प्राप्तिकी इच्छा न भी हो, सुख, शान्ति, आनन्दके लिये ही दानकी अति आवश्यकता है । दानसे धनमें कभी कमी नहीं आती, बल्कि बरक़त आती है । दानसे पिछले पापों-कुकर्मोंका प्रायश्चित्त भी हो सकता है । ढंग आना चाहिये । हर काम ढंगसे करनेपर ही 'रंग' आता है ।

चिड़ी चोंच भर ले गई, नदी न घटियौ नीर ।
दान दिएँ धन ना घटे, कह गए दास कबीर ॥

खाली पढ़ने-सुनने-कहनेसे कुछ नहीं बनता । लाभ तो तभी होता है, जब हाथसे कुछ करके दिखाओ !

अब प्रश्न यह उठता है—दानीका भाव कैसा होना चाहिये ? दानकी खबर, भगवान्‌के सिवा, किसी

दूसरेको नहीं मिलनी चाहिये। यहाँतक कहा गया है—'दायाँ हाथ दान करे, बायेंको पता न चले।' दान करनेवालेमें अहंभाव नहीं होना चाहिये, दिलके किसी कोनेमें भी। 'मैं नहीं देता, देनेवाला भी तू है।' इस भावसे देना चाहिये! अकबर बादशाहका माँके चरणोंमें चढ़ाया हुआ सोनेका थाल एकदम पीतलका बन गया, जब बादशाह सलामतको यह ख्याल आया—मेरे-जैसा महादानी नहीं है दूसरा!

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सब तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर॥

खाली मुँहसे कहनेसे कुछ नहीं बनता! 'दाता' तो दानीके रग-रगकी जानता है। भगवान् केवल 'भाव'का भूखा है। दानको घरसे शुरू होकर, ब्रह्माण्डतक, बल्कि 'ब्रह्माण्ड-नायक'तक पहुँचना चाहिये, फैलना चाहिये। घरमें माँ नाराज़ है तो पहले उसे प्रसन्न करके, फिर बाहरकी सोचो। तुम्हारे भाईके बच्चेको पढ़ाईके लिये धन चाहिये, तो पहले उसकी ज़रूरत पूरी करो, बचे तो बाहर दो।

जिस धनके बदले तुम कोई काम लेते हो किसीसे, वह धन दानमें नहीं गिना जाता। दान तो निष्कामभावसे, बिना किसी बदलेकी भावनासे होना चाहिये। अगर उसी वक्त तुमने अपने धनका एवज ले लिया, तब तो हिसाब-किताब वहीं खत्म हो गया। ऐसा दान दान नहीं, व्यापार होता है।

यश-मानके लिये दिया गया दान भी सात्त्विक नहीं होता। क्या वह अन्तर्यामी मालिक नहीं जानता, जिसके लिये तुमने दिया है? सवा रुपयेका भोग लगाकर, बार-बार अरदासमें अपना नाम सुनवाते हो, एक शिला लगवाकर उसपर अपना नाम खुदवाते हो? यही शान है तुम्हारा? जिसके लिये तुम दान देते हो, वह तो बिना बोले, बिना लिखे, नहीं भूलता जन्म-जन्म! तुम उसे प्रसन्न करनेके लिये नहीं, अखबारोंमें अपना नाम छपवानेके लिये देते हो! 'वाहवाही' तुम्हारी तो हो गयी, तालियाँ तो सुनवा दीं तुम्हारे दानने; और क्या लेना है तुमको!

दान तथा भेंटमें भेद

जब दान देनेवाला दान लेनेवालेको भगवान्‌का रूप मानकर उसके श्रीचरणोंमें प्रेमसे दान अर्पण करता है, तब दान दान न रहकर, महान् भेंट बन जाता है।

'और हे अर्जुन! न दानसे, न वेदोंसे, न तपसे और न यज्ञसे इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं देखा जा सकता हूँ, जैसे मुझे तुमने देखा है। परंतु हे शत्रुतापन अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा और तत्त्वसे जाना अर्थात् एकीभावसे प्राप्त किया जा सकता हूँ।'

(गीता ११। ५३-५४)

जिस भगवान्‌ने कहा है कि 'मैं केवल सत्कर्मोंसे प्राप्त नहीं होता, मुझे प्राप्त करनेके लिये अनन्य भक्ति चाहिये', यकीन करो, सच मानो, वही आज कह रहा है कि 'अगर दान प्रेमभावसे अर्पण किया जाय तो केवल दानसे ही मेरी प्राप्ति हो सकती है।' यदि दानमें इतनी सामर्थ्य है तो क्यों न हम दानमें भक्तिभाव भर दें कूट-कूटकर? जो भी देना हो, बड़े प्रेम-भावसे, दूसरेको भगवान् मानकर उसके श्रीचरणोंमें भेंटरूपमें धरें! हर रूप भगवान्‌का है। इस कलियुगमें तो भगवान् अंधे, अपाहिज, कोढ़ी-कँगलेके रूपमें ही विचरता है। हर व्यक्तिको भगवान्‌का रूप मानकर, उसके चरणोंमें अपने दानकी भेंट चढ़ानेवाला भले ही नियमसे न जाय मन्दिर या मस्जिदमें, भगवान् उसपर प्रसन्न होकर, स्वयं उसके हृदय-मन्दिरमें प्रकट होकर उसे आनन्द देते हैं। यकीन नहीं तो करके देखो।

दान गरीब लेता है, अमीरसे। भगवान्, जो सबका दाता है, दान नहीं लेता। हाँ, मित्रकी भेंटकी उसे भी जरूरत रहती है। प्रेमकी प्यास लिये वह भी भटकता है द्वार-द्वार! एक जगह प्रभु ईसामसीह लिखते हैं—'तुम कोई भेंट लेकर गिरजा जा रहे हो। रास्तेमें तुम्हें याद आती है कि तुम्हारा भाई तुमसे नाराज़ है, तो भेंटको वहीं रास्तेमें रखकर पहले जाकर अपने भाईको मनाओ, फिर भेंट चढ़ाओ! तब स्वीकार होगी तुम्हारी भेंट दाताके दरबारमें!'

तनसे, मनसे, धनसे दान करो—सामर्थ्यके अनुसार! सबसे उच्चकोटिका दान 'सेवाका दान' है। सेवा करते-करते भाई लहना गुरु-गद्दीका मालिक बन गया। तनद्वारा सेवा-दानसे मनमें नम्रभाव पैदा होता है, हृदयमें प्रेम जागता है,

अहंकारका अन्धकार मिटता है। किसी अपरिचित रोगीको उसकी दवाका दाम देनेवाला तो प्रिय होगा ही, लेकिन उसका हर काम करनेवाला, उसे खिलाने-पिलानेवाला, उसका बिस्तर झाड़नेवाला, उसका मल-मूत्र उठानेवाला उसे सबसे प्यारा लगेगा। रामायणमें श्रीराम कहते हैं—

तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
(उत्तरकाण्ड ८५।४)

गुरु नानकदेवजी तो प्रभु-सेवकके चरणोंकी धूल माँगते हैं। दासोंका दास केवल प्रभु ही हो सकता है।

"हे अर्जुन! एक ओर तो मेरी सारी सेना है, दूसरी ओर मेरी 'सेवा' है। हाथोंसे तेरा रथ हाँकूँगा और मुखसे तेरे साथ बातें करूँगा; अब चुन ले, जो लेना हो।" भगवान्‌के 'बुद्धि-दान'से न केवल अर्जुनको जीत मिली, अपितु सारे संसारको गीता-जैसा महान् ग्रन्थ मिला, जो अनेकोंका कल्याण कर चुका और करता रहेगा अनन्त-कालतक।

हमारे मुल्कमें विद्यादान होता था। गुरुओंमें कल्याणभावना थी और शिष्योंमें सेवाभाव। जिस दिनसे विद्याका व्यापार होने लगा, विद्या बेची जाने लगी, न वे गुरु रहे न शिष्य, देश कंगाल हो गया। आजकलके शिक्षकों तथा विद्यार्थियोंका हाल किसीसे छिपा नहीं है। शिक्षक रोते हैं—हमारा सत्कार नहीं होता। विद्यार्थी रोते हैं—तुम सत्कारके योग्य नहीं। हमारे पैसेका हमें दाम नहीं मिलता।

जो भी दे सकते हो, दो। गरीबोंको दो, दुःखियोंको दो, रोगियोंको दो और कभी-कभी उनका भी ख्याल करो, जो तुम्हारे उत्थानका ख्याल रखते हैं। साधु-महात्मा तुम्हारी आत्माकी फिक्र करते हैं। तुम उनके शरीरकी तो रक्षा करो। उन तपस्वियोंकी तो जरूरतें ही बहुत कम होती हैं, फिर भी हम खुशीसे उनकी सेवा नहीं करते। हमारा धर्म है, हमारा कर्त्तव्य है कि हम ब्राह्मणों (यहाँ केवल सचाईका ही जिक्र है), विद्वानों, पण्डितों, साधुओं, महात्माओंके चरणोंमें सेवादान करें—तनसे, मनसे, धनसे, तभी हमारा कल्याण हो सकता है।

गुरु और प्रभु एक हैं। प्रभु अन्तर्यामी हैं, सर्वसमर्थ हैं; वे निराकार भी हैं और साकार भी! वे हिंदू-सिक्ख, मुसल्मान-ईसाई—सब कुछ हैं। एक ही अनेक रूपोंमें विचर रहे हैं। यकीन करो! विश्वास करो, किसी रूपमें भी, किसी रूपको दिया हुआ भगवान् स्वयं ग्रहण करते हैं।

'हे अर्जुन! पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्ध-बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादिक मैं सगुणरूपसे भोग लगाता हूँ!'
(गीता ९।२६)

प्रेमसे, श्रद्धासे अर्पण की हुई भेंटसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। जब उनकी बारी आती है तो वे क्या नहीं देते। जिस खुशनसीबपर उनका दिल आता है, वे महादानी तो अपने आपको ही भक्तके चरणोंमें रख देते हैं! वे पूर्णसे पूर्ण देकर भी पूर्ण रहते हैं!

लेकिन देनेके लिये मनमें थोड़ा 'त्याग' होना चाहिये। उदाहरणार्थ, बीस रुपये गजवाला कपड़ा न लेकर, अगर हम दस रुपये गजवाला ले लें, तो उतने ही पैसोंमें एककी जगह दो तन ढके जा सकते हैं! 'देना' याद रखो देनेसे पहले! देकर भूल जाओ! हम हमेशा देनेकी बनिस्बत लेते बहुत हैं! हमारी खुशहाली तभी बढ़ सकती है, जब हम देनेको लेनेकी अपेक्षा अधिक महत्त्व दें!

आओ, आज हम प्रतिज्ञा करें कि आगेसे हम इतना दान अवश्य किया करेंगे अपनी आयमेंसे! खूब दिल खोलकर प्रभु-चरणोंमें श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करें! मैं तुच्छ कुछ नहीं कह रही! यह जो भी कह रहे हैं, भगवान् स्वयं कह रहे हैं अपने श्रीमुखसे! वे अपने बच्चोंका दुःख नहीं देख सकते। उनकी खुशीके लिये स्वयं ही सिखाते हैं हर ढंग, अनेक रूपोंमें!

महाराज हमें सुबुद्धि दें, बल दें, ताकि हम उनके कथनानुसार चलते हुए अपना कल्याण करें!

प्रार्थना

मुझ अकिंचनको तुम अपना प्यार दे दो !

मेरे प्राणसखे !

इस संसारमें मुझ-सा अकिंचन, मुझ-सा दरिद्र तो सम्भवतः कोई न होगा। कुछ भी तो नहीं है मेरे पास अपना कहनेको ! कुछ भी तो विशिष्ट नहीं है मुझमें। मेरे प्रिय ! तुम्हें रिझानेको, तुम्हारे चरणोंमें अर्पित करनेको कुछ भी नहीं है मेरे पास !

देखो न, इस धरित्रीको ही देखो ! कितना रंग-विरंगा पुष्पाभरणयुक्त वेष धारण किया है इसने ! हरी-हरी कोमल दूबकी मनोहर साड़ी पहनी है इसने ! एक क्षणके लिये भी इस दूर्वापथपर तुमने अपने कोमल चरण रख दिये कि इसकी सम्पूर्ण सज्जा, सम्पूर्ण शोभा कृतकार्य हो जायगी।

और, इस आकाशको देखो। प्रतिदिन अगणित किरणोंसे बुना चमकीला वस्त्र ओढ़े, सूर्य-चन्द्रके मणिदीपोंसे तुम्हारी आरती उतारता है। धन्य हैं इसके भाग्य कि तुम्हारी अर्चना करनेको ऐसे उज्ज्वल दीपक इसने पाये हैं।

इस रात्रिको ही देखो, अनन्त तारकावलि-जड़ी श्याम चूनरी ओढ़े अपने चन्द्रमुखसे तुम्हारी सुषमा निहारती रहती है।

और, यह तरुमाला अपने शाखा-करोंमें अगणित सुमधुर फल-फूलोंके उपहार सजाये एक पैरपर खड़ी तुम्हारी प्रतीक्षामें रत है। एक बार भी तुम इसकी शीतल छायामें क्षणिक विराम लेकर इसके फूल-फलोंको ग्रहण कर लोगे तो इसकी तप-साधना सफल हो जायगी।

ये विहंगमगण निरन्तर अपनी कलरव-काकलीसे तुम्हारा यशोगान गा रहे हैं। एक बार भी तुम प्रेमसे इनकी ओर निहार लोगे तो इनका जीवन धन्य हो जायगा।

यह सुरभित मन्द-मन्द मलय-समीर, ये नृत्यपरायणा विद्युन्मालाएँ, ये झूमती-झुकती मेघावालियाँ, ये वेगसे धावित जल-धाराएँ—सभी तो तुम्हारे सुख-साधनमें, तुम्हारे पूजा-आयोजनमें संलग्न हैं।

सभी तो मुझसे अच्छे हैं। सबका जीवन सार्थक है, सोद्देश्य है, सफल है। एक मैं ही निरुद्देश्य, व्यर्थ, भारस्वरूप हूँ। कोई भी गुण नहीं है मुझमें, कुछ भी विशेषता नहीं है मेरे जीवनमें—न रूप न शील, न माधुर्य न लावण्य, न कौशल न कर्मपरायणता—केवल कामनाएँ हैं, प्रार्थनाएँ हैं, आँसू हैं, अभियोग हैं।

चाह थी अपने हृदयका निर्मल प्यार तुम्हें दे पाता ! पर प्यार भी नहीं है मेरे पास कि तुम्हें दे सकूँ। मेरे प्राण इतना प्यार पा ही कहाँ सके कि तुम्हें दे पाते। मुझमें तो प्यारका लवलेश भी नहीं है। तुम्हें समर्पित करनेको कणमात्र भी प्यार मुझे प्राप्त होता कहाँसे ?

प्रीतिके साकार विग्रह तो तुम्हीं हो ! तुम्हीं तो मूर्तिमान् प्रेम हो ! मात्र प्रेमसे ही निर्मित एक प्यारी मूर्ति हो तुम, मेरे प्रेम-देवता ! प्रेम-नैवेद्यसे ही तुम रीझते हो। प्रेम-पूजा ही तुम्हारी यथार्थ पूजा है।

मेरे अवलम्ब तो केवल तुम हो ! मैं तो तुम्हारे ही द्वारका एक याचक हूँ । तुम्हारा होकर किसी अन्यके द्वारपर जानेका विचार भी मनमें कैसे ला सकता हूँ ? तुमसे याचना एक ही वस्तुकी करता हूँ । वह वस्तु है—प्यार । मेरे प्राणसखे ! मुझे तो एकमात्र 'प्यार' नामक पदार्थ दे दो, शेष सभी कुछ अपने पास ही रहने दो । अन्य किसी वस्तुकी छाया भी छूनेकी मुझे चाह नहीं ।

यह प्यार—एकमात्र तुम्हारा प्यार ही मुझे प्राप्त हो गया तो मैं इस जगत्‌में मुक्त, निर्भय होकर विचरण करूँगा । जगत्‌के सम्पूर्ण ताप मुझे छू भी नहीं पायेंगे । संसारके सारे विष मेरी तनिक भी क्षति नहीं कर सकेंगे । मैं प्यारका अमृत जो पिये रहूँगा !

मेरे प्राणधन ! तुम तो इतना ही करो, अपना प्यार मुझे दे दो । उसीको मैं तुम्हारे चरणोंमें समर्पित करता रहूँगा तथा बदलेमें कईगुना तुमसे और पाता रहूँगा । इस प्रकार अनन्तकालतक हम दोनों प्रेमका ही आदान-प्रदान करते रहेंगे । मेरे हृदयधन ! मैं अनन्तकालतक तुम्हें प्यार करता रहूँ और अनन्तकालतक तुम्हारा प्यार पाता रहूँ—इससे बड़ी और कौन-सी अभिलाषा तुम्हारे सामने व्यक्त करूँ ?

हम दोनों अनन्तकालतक प्रेम-सिन्धुकी लहरोंमें डूबते-उतराते रहें—यही मेरे प्राणोंकी चिर साध है; यही माँगता हूँ तुमसे ।

—तुम्हारा ही अपना एक
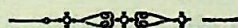
गतवर्षके श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना

(कार्तिक पूर्णिमा २०२८ से चैत्र पूर्णिमा २०२९ तक)

बड़े आनन्दकी बात है कि प्रतिवर्ष हमारी प्रार्थनापर ध्यान देकर 'कल्याण'के भगवन्नाम-प्रेमी सम्मान्य पाठक-पाठिकाएँ स्वयं जप करते हैं तथा अन्यान्य महाभाग्यवान् महानुभावों तथा महाभागा देवियोंको प्रेरित करके उनके द्वारा जप कराते हैं और उसकी सूचना हमें देते हैं । प्रतिवर्ष, 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'—इस षोडश नाम-मन्त्रके बीस करोड़ जपके लिये प्रार्थना की जाती है, परंतु भाग्यशाली जपकर्ताओंका उत्साह इतना अधिक होता है कि प्रतिवर्ष ही जप-संख्या चालीस-पचास करोड़ हो जाया करती है । गतवर्ष हमारे यहाँ मन्त्र-संख्या ६६, ५८, ८५, ५०० (छाछठ करोड़, अट्ठावन लाख, पचासी हजार, पाँच सौ) तथा नाम-संख्या १०, ६५, ४१, ६८ ०००, (दस अरब, पैंसठ करोड़, इकतालीस लाख, अड़सठ हजार) अङ्कित हुई । इस महान् पुण्यकार्यमें जिन्होंने सहयोग दिया है, हमलोग उनके बड़े कृतज्ञ हैं और इस कृपाके लिये हम उनको श्रद्धावनत हृदयसे बार-बार नमस्कार करते हैं । श्रीभगवन्नाम-प्रेमी सम्मान्य पाठक-पाठिकाओंसे हमारा विशेष अनुरोध है कि इस वर्ष यह संख्या इससे भी अधिक होनी चाहिये और इसके लिये उन्हें सूचना प्राप्त होते ही प्रयत्न करना चाहिये । श्रद्धेय श्रीभाईजीद्वारा प्रचारित इस 'भगवन्नाम-जप-यज्ञ'में जो महानुभाव अपनी आहुति डालेंगे, उन्हें निश्चय ही भगवान्‌की कृपा प्राप्त होगी । नाम और नामीमें अभेद है, नामका आश्रय भगवान्‌का आश्रय ही है ।

गतवर्ष जिन-जिन स्थानोंसे नाम-जप होनेकी सूचना हमें प्राप्त हुई है, उनकी सूची अगले अङ्कमें प्रकाशित की जा सकती है ।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥
(बृहन्नारदीयपुराण)

'एकमात्र श्रीहरिका नाम ही, नाम ही, नाम ही मेरा जीवन है। कलियुगमें निश्चय ही और कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

अहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य। तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम ॥

'जिस प्रकार सूर्यभगवान् एक बार उदय होनेमात्रसे ही सम्पूर्ण अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीहरिका नाम एक बार उच्चारणमात्रसे ही जीवमात्रके समस्त पापोंको नष्ट कर देता है, अतएव जगत्के मङ्गलप्रद श्रीहरिनामकी जय हो!'

हमारे शास्त्रोंने तथा संतोंने भगवान्के नाम-स्मरणको कलियुगका मुख्य धर्म माना है। इतना ही नहीं, जगत्के समस्त धर्म-सम्प्रदाय भी किसी-न-किसी रूपमें भगवान्के नामस्मरणके महत्त्वको स्वीकार करते हैं। नामके स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई भी नियम नहीं है। श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है—

'नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिस्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।'

'हे भगवन्! आपने लोगोंकी विभिन्न रुचि देखकर नित्यसिद्धि अपने बहुतसे नाम कृपा करके प्रकट कर दिये, प्रत्येक नाममें अपनी सारी शक्ति भर दी और नाम-स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई नियम भी नहीं रखा।'

'कल्याण'के माध्यमद्वारा भी आरम्भसे ही भगवान्के नाम-स्मरणका प्रचार हुआ है, कारण 'कल्याण'के प्रवर्त्तक एवं आदि सम्पादक परमश्रद्धेय नित्यलीलालीन हमारे भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी पूर्वजन्मके संस्कारवश एवं भगवत्कृपासे बाल्यकालसे ही भगवन्नामके प्रति बड़ी निष्ठा तथा रुचि थी और उन्होंने जीवनभर नामकी साधना की। वे आजीवन षोडशनाम-महामन्त्र—'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥', का जप करते रहे। उन्होंने श्रीभगवन्नाम-स्मरणको ही वर्तमान युगके लिये एकमात्र साधन माना। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है—

'इस नामके सिवा संसार-सागरसे पार कर देनेवाला दूसरा कोई भी सहज साधन मुझे दृष्टिगोचर नहीं होता। ×××××× मैं भगवन्नामकी महिमा क्या लिखूँ? मैं तो नामका जिलाया जी रहा हूँ।' एक बार ऋषिकेशके सत्सङ्गमें भी उन्होंने कहा था—'मैं भगवान्के नामके जपपर जोर क्यों देता हूँ? इसका कारण यही है कि मैंने जीवलभर यही किया है। जो कुछ भी अच्छी बात मेरे जीवनमें आयी है, वह नाम-जप एवं भगवत्कृपाके प्रतापसे। पारमार्थिक जीवनका आरम्भ नाम-जपसे हुआ और जीवनमें साधना भी इसीकी हुई है।'

श्रीभाईजी स्वयं तो नामपरायण थे ही, वे जगत्के जीवोंको भी नामपरायण करना चाहते थे। अतएव उन्होंने 'कल्याण'के प्रवर्तनसे एक वर्ष पूर्व ही अर्थात् संवत् १९८२ में, जब वे बम्बईमें निवास करते थे, सामूहिक नाम-जपके लिये प्रार्थना की। मित्रों, स्वजनों तथा नाम-प्रेमियोंने उनके इस सत्प्रयासका स्वागत किया और पर्याप्त नाम-जप हुआ। संवत् १९८३ में जब 'कल्याणका' प्रवर्तन हो गया, तब श्रीभाईजीने 'कल्याण'के द्वारा भगवन्नाम-

के प्रचारका उद्घोष किया। प्रथम वर्षके सातवें अङ्कमें (अर्थात् माघ सं० १९८३ में) उन्होंने उसी वर्षकी फाल्गुन पूर्णिमातक अर्थात् २ मासके अल्प समयमें षोडशनाम-महामन्त्रके साढ़े तीन करोड़ जप करनेकी 'कल्याण' के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना की। सच्चे नामप्रेमीकी प्रार्थनाका आशातीत प्रभाव होना ही था। फलतः उस वर्ष प्रार्थित संख्यासे दस-गुनी संख्यामें नाम-जप हुआ। इसके पश्चात् तो श्रीभाईजी नाम-प्रचारपर तुल गये और उन्होंने 'कल्याण'का प्रथम विशेषाङ्क अर्थात् श्रावण सं० १९८४ का अङ्क 'श्रीभगवन्नामाङ्क'के नामसे प्रकाशित किया। इस अङ्कके पठन-मननसे सहस्रों व्यक्ति नामपरायण हुए। तबसे श्रीभाईजी प्रतिवर्ष 'कल्याण'में नाम-जपके लिये प्रार्थना प्रकाशित करने लगे तथा उस प्रार्थनापर ध्यान देकर देश-विदेशमें फैले हुए 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाएँ बड़े उत्साह एवं प्रेमसे नाम-जप करते-करवाते रहे। इतना ही नहीं, श्रीभाईजी अपने सत्सङ्गमें नामस्मरणपर विशेष जोर देते थे। व्यक्तिगतरूपसे साधना पूछनेवालोंको भी नामजप अवश्य बतलाते थे।

किंतु विधिका विधान! हमारे स्नेहमूर्ति श्रीभाईजी, जिनका तन-मन-प्राण श्रीभगवन्नाममय हो गया था, प्रत्यक्षरूपमें आज हमारे बीच नहीं हैं। नाम-प्रेमी होते हुए भी मेरा जीवन नामपरायण नहीं है। अतएव श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना करनेमें मुझे बड़े संकोचका अनुभव हो रहा है। परंतु शास्त्रों एवं संतोंद्वारा प्रतिपादित तथा अपने परमश्रद्धेय श्रीभाईजीद्वारा प्रचालित नाम-स्मरणकी इस साधन-परिपाटीको बराबर चालू रखना अपना कर्तव्य मानकर 'कल्याण'के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि वे गत वर्षोंकी भाँति इस वर्ष भी कृपापूर्वक स्वयं प्रेम एवं उत्साहके साथ अधिक-से-अधिक नाम-जप करें एवं प्रेरणा देकर अपने स्वजनों, बान्धवों, पड़ोसियों आदिसे करायें। इसमें उनका तथा उनकी इस प्रार्थनाको जो भी स्वीकार करेंगे, उनका परम हित होगा। साथ ही, वे सभी नाम-प्रेमी सज्जन मुझे आशीर्वाद दें, जिससे मेरा जीवन भी नामपरायण हो जाय।

गत वर्षोंकी भाँति इस वर्ष भी—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'

—इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। नियमादि इस प्रकार हैं—

१-यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है।

२-इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५, सोमवार, सं० २०२९ (२० नवम्बर १९७२) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५, मंगलवार सं० २०३० (१७ अप्रैल १९७३) तक रहेगा। जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५, सं० २०३० को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है। उसके आगे भी जप किया जाय, तब तो बहुत ही उत्तम है, करना चाहिये ही। देरसे जपकी सूचना मिले तो जब मिले, तभीसे जप शुरू कर देना चाहिये।

३-सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

४-एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'—इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ वार (एक माला) जप तो अवश्य करना चाहिये। अधिक कितना भी किया जा सकता है।

५-संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अँगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रक्खी जा सकती है।

६-यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए—सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७-बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा सम्भव न हो तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८-घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९-स्त्रियाँ रजोदर्शनके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं, किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०-इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्र-जपकी ही दें। लिखित भगवन्नाम हमें नहीं भेजने चाहिये; कारण, हमारे यहाँ उनके पूजन आदिकी व्यवस्था नहीं है।

११-सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२-संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिनमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो भाई-बहन मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३-सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र-पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो, उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र-पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र-पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४-जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साह-वृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५-सूचना संस्कृत, हिंदी, राजस्थानी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६-सूचना भेजनेका पता—'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीतावाटिका (गोरखपुर)

प्रार्थी—चिम्मनलाल गोस्वामी

हो सकता पुत्र कुपुत्र, कभी माता न कुमाता होती पर

(श्रीशंकराचार्यविरचित प्रसिद्ध 'श्रीदेव्यपराधक्षमापनस्तोत्र' का पद्यानुवाद)

(१)

मन्त्रों-यन्त्रोंका ज्ञान नहीं, करना न स्तवन मुझको आता।
अविदित आह्वान-ध्यान-विधि या कैसे गुण-गान किया जाता॥
जानता न तव मुद्राओंको; करना न मुझे आता बिलाप।
माँ! परम तथ्य जानता कि तव अनुसरण मिटाता पाप-ताप॥

(२)

विधिके न जाननेसे, निर्धनतासे, मेरे सालस-पनसे।
त्रुटि हुई चरण-सेवामें जो अथवा कर्तव्यापालनसे—
माँ! सकलोद्धारिणि शिवे! चाहिये; क्षमा-दृष्टि फेरो इसपर।
हो सकता पुत्र कुपुत्र; कभी माता न कुमाता होती पर॥

(३)

हैं सरलचित्तवाले अम्बे! पृथ्वीपर तेरे पुत्र बहुत।
उन सबमें सबसे विरल-वक्र मैं भी हूँ एक तुम्हारा सुत॥
है शिवे! उचित तुमको न मुझे तज देना; जाना मुझे बिसर।
हो सकता पुत्र कुपुत्र; कभी माता न कुमाता होती पर॥

(४)

तव चरणोंकी माँ! जगदम्बे! मुझसे न हुई सेवा विरचित।
हे देवि! न और किया तुमको मैंने धन-धान्य विपुल अर्पित॥
तब भी करती हो प्रचुर स्नेह अनुपम तुम इसीलिये मुझपर।
हो सकता पुत्र कुपुत्र; कभी माता न कुमाता होती पर॥

(५)

तज दिया सुरोंको नानाविधि सेवासे मैंने अकुलाकर।
जब कुछ भी हाथ न लगा, यदपि हो गया पचासीसे ऊपर॥
इस समय तुम्हारी कृपा-दृष्टि यदि मातः मुझपर फिरी नहीं।
जन निरालम्ब हेरम्ब-जननि! पायेगा कैसे ठौर कहीं॥

(६)

अविशद-भाषी चण्डाल प्राप्त करता मधु-सदृश रसाल गिरा।
निर्भय विहार करता चिर दिन निर्धन निष्कोंसे कोटि घिरा॥
कानोंमें पड़े अपर्णे! तव मन्त्रस्थित-सब्दक्षर-फल यह।
क्या-क्या फिर प्राप्य सविधि जापकजनको न जानता; सकता कह॥

(७)

तन चिता-भस्मसे भूषित; वेश दिगम्बर, भोजन कालकूट।
पशुपति; ग्रीवामें अहिपतिकी माला शोभित, सिर जटाजूट॥
भूतेश; कपाली तदपि अखिल-जगदीश्वर पदवीसे भूषित।
तव पाणिग्रहण-परिपाटीका ही है अम्बे! यह फल निश्चित॥

(८)

है नहीं मोक्षकी आकाङ्क्षा; भव-विभव-लालसा मुझे नहीं।
विज्ञान अपेक्षित नहीं; न तो उर बीच सुखेच्छा छिपी कहीं॥
अतएव जननि! याचना यही; मेरा जीवन-पथ जाये नप।
शिव, शम्भु; भवानी; उमा; मृडानी; रुद्राणीका करते जप॥

(९)

की नहीं आराधना विधिमयी बहु-उपचार-सज्जित।
किया वाणीने न क्या-क्या रूक्ष-चिन्तनमें निमज्जित॥
शिवे! अशरण-दीन मुझपर यदि कृपा किंचित तुम्हारी।
तो तुम्हारे लिये माँ यह बात औचित्यानुसारी॥

(१०)

आपत्ति-सिन्धुमें डूबा करता हूँ स्मरण तुम्हारा।
हे दुर्गे! करुणा-सागर, हे महामहेश्वरि तारा॥
आचरण इसे शठताका मानना न मेरे द्वारा।
हो क्षुधा-तृषाकुल माँको शिशुने है सदा पुकारा॥

(११)

जग-जननि! अघट क्या, यदि मुझपर तुममें करुणा भर-भर आती।
संतत अपराध-निरत सुतकी भी माँ न उपेक्षा कर पाती॥

(१२)

मुझ-सा न अघी कोई न तथा तुम-सम करनेमें हरण दुरित।
हे महादेवि! यह तथ्य जान, अब करो वही जो लगे उचित॥

—माधवशरण

'अभयं मित्रादभयममित्रात्'

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

वेदवाणी जीवनके अनुभूत तत्त्वज्ञानसे पूर्ण है। उसमें अनेक शाश्वत सत्योंका उद्घाटन हुआ है। इसीलिये वह ऋषिवाणी, देववाणी, सनातन वाणी है। अथर्ववेदके ऋषि १९। १५। ६ में कहते हैं—

अभयं मित्रादभयममित्राद्
अभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

'हमें मित्रसे भय न हो, अमित्र (शत्रु)से भी भय न रहे। जो ज्ञात है, उससे भय न हो और जो आगे है, आनेवाला है, उससे भी भय न हो। हमें रातमें भी भय न हो, दिनमें भी भय न हो; सभी दिशाएँ—सभी दिशाओंके प्राणी मेरे मित्र हो जायँ, मेरे मित्र होकर रहें।'

अभय सर्वात्मसाधनाका प्राणविन्दु है। ज्ञात अथवा अज्ञात विश्वमें जो भी जीवन है, वह सब परमात्मसत्ताके कारण और उसीको लेकर है। हम सब उसीके हैं, उसीसे हैं, उसीके अन्तर्गत हैं। कभी-न-कभी, किसी-न-किसी रूपमें उसी विराट्को पाने, उसको अनुभव करनेकी प्रेरणा मानवमें स्फुरित होती है। मानव ही क्यों, समस्त जगत्, जगत्का प्रत्येक अणु उसी मूल चिन्मय शक्तिकी धारामें बहता हुआ उसको पानेके लिये थिरकता, नृत्य करता चल रहा है। सब कुछ उसीमें और उसीकी ओर प्रधावित है। मनुष्यमें उस चिन्मयताके कुछ अधिक कण होनेके कारण, विकासकी प्रक्रिया अपेक्षाकृत तीव्र होनेके कारण, वह प्रयत्न करनेपर उसका आभास पा सका है। वह जान सका है कि सब उसीके चिदंश हैं, इसलिये इन चिदंशोंमें भी एक आकर्षण है। सबमें एकत्व है, इसलिये उनमें एक-दूसरेको अपनानेकी सहज प्रेरणा है। यही प्रेरणा कि सब अन्तमें एक हैं, कर्म-सुलभ होनेपर नीति, भाव-सुलभ होनेपर धर्म या भक्ति और ज्ञान-सुलभ होनेपर दर्शनके रूपमें अवतरित होती है।

जब ज्ञान परिष्कृत होकर दर्शन बनता है, तभी मनुष्यमें यह वास्तविक ऐक्य-बोध आता है कि सब कुछ एक ही सत्ताका रूपान्तरण है। मानवने अपनी सुख-सुविधाके लिये एक जगह रहना सीखा; ऐक्य-बोधकी यह निरन्तर गतिशील प्रक्रिया ही उसे एक-दूसरेकी ओर खींचती रही। मानवमें जो प्रेमतत्त्व है, ममत्वकी भावना है, वह वस्तुतः इसी ऐक्य-बोधको लेकर है। इसीलिये श्रेष्ठ नीतिका आधार है मानवका मानवके प्रति, बल्कि जीवमात्रके प्रति भ्रातृत्व-बोध, ऐक्य-बोध। जब सब अपने हैं, बन्धु हैं, तब उनके प्रति विरोध, रोष या हिंसाका भाव आ ही कैसे सकता है। जब सम्पूर्ण जगत् उसी एक प्रभुसे आच्छन्न है, जो सबका है, जिसमें सबका अस्तित्व है और सब जिसके अंश हैं, तब विरोध कैसा, हिंसा कैसी ? वही बात है, जो तुलसीदासने उमाके प्रति शिवके वचनरूपमें कहलायी है—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

यह ऐक्य-बोध मानवकी समस्त साधनाका हृदय है। इसीसे अभयकी स्थिति आती है। जब सब अपने ही हैं, तब भय किससे ? संसारमें जो कुछ विरोध है, विडम्बनाएँ हैं, प्रतिस्पर्द्धा है, वह इसीलिये कि मनुष्य निम्नस्तरपर जी रहा है, वह अपना स्वरूप भूल गया है; सारा झगड़ा देहस्थ अनुभवों एवं कल्पनाओंको लेकर है। जब मानव दैहिक जगत्में स्थित होता है, भ्रमवश अपनेको देह समझ लेता है; जब उसकी सारी प्रक्रिया देहको सँभालने-सँवारने, उसीके लिये साधन जुटाने, उसीकी रक्षा एवं शृङ्गारसे सुख पानेकी ओर अग्रसर होती है; जब वह भूल जाता है कि यह देह भी किसी अमर-तत्त्वके स्पर्शसे जीवनमय दिखायी पड़ती है, वास्तविक स्थिति देहातीत है, आत्मगत है, आत्मिक है और आत्मबोध ऐक्यबोधको लेकर है, तभी सत्य असत्यसे आच्छन्न हो जाता है; जो सनातन है, उसका बोध लुप्त हो जाता है; हम अपनेको देह समझते हैं और इसी देह तथा उसकी परिधिको लेकर राग करते हैं, प्रतिस्पर्द्धा करते हैं, अपना-पराया भेद करते हैं और जहाँ गहराईमें ऐक्य है, वहाँ अनैक्य देखते हैं। जब अपना पराया हो जाय तो आकर्षण कैसे हो। इसीलिये विकर्षण, हिंसा, युद्ध, झगड़े, दूसरोंको नष्ट करके अपना विस्तार करनेकी आकाङ्क्षा जन्मती है। जितनी भी मनोगत दुर्भावनाएँ हैं, सब भयके कारण उत्पन्न होती हैं। भय विभेदके असत् अनुभवोंसे उत्पन्न होता है। भय देहानुभव है, अभय देहातीत अस्तित्वका अनुभव है।

इसीलिये अभय आत्मज्ञानकी पहली शर्त है। योगशास्त्र इसकी महिमाका गान करता है। गीतामें भगवान् 'अभय'से ही दैवी सम्पदाकी गणना आरम्भ करते हैं। 'अभय'का अर्थ ही है देह-लोकको पारकर आत्म-जगत्में प्रवेश करना। जब यह आता है, तब स्वभावतः हमारी दृष्टि पलट जाती है। तब यह अनुभव होता है कि सुप्त एवं जागरित, जितना भी जीवन है, उस सबका स्रोत एक ही है। एक ही सत् अनेक रूपोंमें व्यक्त हुआ है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' यहाँतक कि सामान्य एवं व्यावहारिक जगत्में जिन्हें हम जड और जंगम, चर और अचर दो विभिन्न नामोंसे पुकारते हैं, वे भी एक ही शक्तिकी विभिन्न स्थितियाँ हैं, जो विभिन्न रूप-नामके साथ हमारे सामने आती हैं। इनमें केवल अवस्था-भेद है, तत्त्वभेद नहीं। अन्तिम और आत्यन्तिक दर्शनमें सब एक ही हैं या यों कह लीजिये कि सब एकके अवान्तर-भेद हैं। श्रुति कहती है—एकोऽहं बहु स्याम्; एक ही ब्रह्म (या पुरुष) अनेक रूपोंमें अवतरित हो गया।

जीवनका स्रोत एक होते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति एवं विकासके भिन्न-भिन्न स्तर हैं। सबमें वही है, किंतु मात्रा-भेदसे। या यह कहना अधिक यथार्थ होगा कि वह मूलचिच्छक्ति किसीमें अपेक्षाकृत अधिक सुप्त है और किसीमें अधिक सक्रिय, घनीभूत एवं व्यक्त है। इसीलिये जड भी वस्तुतः जड नहीं, अव्यक्त चेतन है। चिदंश तो सबमें है, केवल उसके रूप-ग्रहण या अभिव्यक्तिमें भेद है। मानवमें यह चिदंश सबसे अधिक चैतन्य-रूप है और मूल स्रोतके सबसे अधिक निकट है। इसीलिये वह आत्मरूप है, उसमें ब्रह्मशक्तिका, परमात्म-ज्योतिका या सत्यका स्फुरण है। उसमें स्वरूपका अनुभव करनेकी शक्ति भी है।

इसीलिये मानवने अपने सत्यान्वेषणकी यात्रामें अपने स्रोतके प्रति अपने विच्छेदको मिलनमें परिवर्तित कर देनेकी पिपासा और तत्सम्बन्धी अनुभूतिके कारण यह उपलब्धि की कि विश्व-प्रपञ्चमें जो कुछ भी है, सबके साथ वह एक आकर्षण-शक्तिमें बँधा है। सब एक ही रज्जुमें बँधे हुए हैं; केवल इतना अन्तर है कि मानव उसकी अनुभूतिमें समर्थ है, दूसरी योनियाँ नहीं। और जब यह अनुभूति आती है, तब सब जीव, सब प्राणी एक ही पिताकी संतति हो जाते हैं अथवा यह प्रतीति हो जाती है कि सब एक ही शक्तिके विविध स्फुरण हैं।

स्वभावतः समस्त जगत् एक ही शक्ति-स्रोत या परमात्माका अंश होनेसे, सृष्टि-मात्रमें अंशीके प्रति, और इसीलिये एक-दूसरेके प्रति भी मिलनकी एक गूढ़ पिपासा है। अणु-मात्र एक आकर्षणशक्तिसे चञ्चल है और स्वतन्त्र होते हुए भी सब एक-दूसरेसे बँधे हुए हैं।

यह जो शरीर-गत भेद है, वही वस्तुतः आत्मैक्यके अनुभवमें बाधक है। ज्यों-ज्यों मानव साधनाकी अवस्थामें आता है और ऊपर उठता है, त्यों-त्यों वह देहातीत होता जाता है, उसमें आत्मैक्यकी अनुभूति विकसित होती जाती है; और ज्यों-ज्यों यह आत्मैक्यकी अनुभूति आती है, त्यों-त्यों समस्त भेदभाव लुप्त होते जाते हैं और विश्वकुटुम्बकी भावना पनपती है। तब जिन्हें हम अमित्र समझते आ रहे थे, उनके प्रति भी मैत्रीभाव जगता है। शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, इसलिये अभयकी स्थिति प्रकट होती जाती है।

इसीलिये श्रुति पुकार-पुकारकर बार-बार प्राणिमात्रके प्रति मित्र-दृष्टि रखनेकी घोषणा करती है। रचनाके आरम्भमें अथर्ववेदकी जो ऋचा दी गयी है, उसमें इसी द्वैधवृत्तिसे एकात्मानुभवकी वृत्तिका चित्रण है। साधक सर्वत्र अभयकी स्थितिकी कल्पना और याचना करता है। वेदमें बार-बार इस अभयावस्थाकी याचना है। अथर्ववेद पुनः कहता है—

इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां
शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु
न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥
(१९। १४। १)

अर्थात् अब यही कल्याणकर है कि मैं समाप्तिपर आ जाऊँ; द्वेष-परम्परापर विराम लगा दूँ। अतः हे शत्रु! तेरे साथ मैं तो द्वेष करना छोड़ ही देता हूँ। द्यौ और पृथिवी भी मेरे लिये अब कल्याणकारी हो जायँ। दिशाएँ एवं अवान्तर दिशाएँ भी मेरे लिये शत्रुताशून्य हो जायँ, मेरे लिये अब अभय ही अभय हो जाय।

आज हमारे चतुर्दिक् भयका अन्धकार छा गया है। इसीलिये इतने ज्ञान-विज्ञानके बाद भी मनुष्य दूसरे प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव रखनेकी अपेक्षा द्वेष-बुद्धिसे आक्रान्त है। अपने भ्रमजालसे उसने अपनेको तो संकटमें डाल ही रखा है, समस्त जगत्के एकात्मानुभवकी प्रक्रियामें भी वह बाधक हो रहा है।

सफलता-प्राप्तिके सात नियम

जीवनमें सफलता-प्राप्तिके लिये इन सात नियमोंका पालन कीजिये—

१–परिश्रम—दीपकके आलोकका रहस्य इस बातमें निहित है कि अपने आलोकको बनाये रखनेके लिये वत्ती एवं तेल जलाता रहता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने शरीरका तेल जलाते हैं, अर्थात् कठिन परिश्रम करते हैं, वे निश्चय ही अपने जीवनमें सफलता प्राप्त करते हैं। हमें सदैव स्मरण रखना चाहिये कि संघर्ष ही जीवन है और निष्क्रियता मृत्युका दूसरा नाम है। सरोवरके स्थिर जल और कल-कल करती हुई प्रवाहमयी नदीके जलमें कितना अन्तर होता है! बह रही नदीका जल निर्मल, आकर्षक एवं स्वादिष्ट होता है, जब कि सरोवरका स्थिर जल मलिन, दुर्गन्ध-युक्त एवं स्वादरहित होता है। यदि आप जीवनमें सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो नदीकी भाँति निरन्तर आगे बढ़ते रहिये। परिश्रम! परिश्रम!! परिश्रम!!!—यही सफलताका प्रथम मन्त्र है।

२–त्याग एवं बलिदान—जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये हृदयमें त्याग एवं बलिदानकी भावना होनी चाहिये। यदि आप कुछ पाना चाहते हैं तो कुछ देना भी सीखिये। एक बीजको विशाल वृक्ष बननेके लिये अपने-आपको मिटाना पड़ता है। सम्पूर्ण आत्मबलिदानका परिणाम 'फल' होता है।

मिटा दे अपनी हस्ती को अगर तू मर्तबा चाहे,
कि दाना खाक में मिलकर गुले गुलजार होता है।

३–तीव्र लगन—किसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये व्यक्तिमें तीव्र लगनका होना आवश्यक है। आत्म-विस्मृतिसे जो कार्य किया जायगा, उसमें आपको सफलता मिलेगी। यदि आप विचार कर रहे हैं तो स्वयं विचार बन जाइये, आप यदि कार्य कर रहे हैं तो स्वयं कार्य बन जाइये; सफलता आपके पाँव चूमेगी।

४–स्नेह एवं सहानुभूति—दूसरोंके प्रति आपके हृदयमें स्नेह एवं सहानुभूति होनी चाहिये। जब आप किसीको प्यार देंगे तो दूसरा भी आपपर प्यार लुटायेगा। स्नेह देना और स्नेह पाना सफलताका चौथा सिद्धान्त है।

५–प्रफुल्लता—प्रत्येक दशामें प्रसन्नचित्त रहना सफलताका पाँचवाँ सिद्धान्त है। आपके खिलते हुए मुखपर मुस्कुराहट देखकर मुझको प्रसन्नता होती है। आप मुस्कुराते हुए पुष्प हैं। आप मानवताके मुस्कान-भरे अङ्कुर हैं। आप प्रफुल्लताके प्रतीक हैं और मैं चाहूँगा कि आप जीवनके अन्तिम क्षणतक प्रसन्नचित्त रहें। कार्यके लिये कार्य कीजिये। भूत एवं भविष्यकी चिन्ता किये बिना लगनसे कार्यरत रहिये। निश्चय ही इस प्रकारकी चित्तवृत्ति हर समय आपको प्रफुल्लता प्रदान करेगी।

६–निर्भयता—भीरुता मृत्युके समान है। अतः इसे अपनेसे दूर रखिये। निर्भय व्यक्ति असम्भवको सम्भव बना सकता है। आपकी साहसपूर्ण दृष्टि शेरतक-को वशमें कर सकती है, बड़े-से-बड़े शत्रुको शान्त कर सकती है। हिमालयके घने-घने जंगलोंमें मैंने भ्रमण किया है। चीते, रीछ, भेड़िये आदि खूँखार जानवरोंसे सामना हुआ है, परस्पर नजरें मिली हैं; किंतु वे बिना कोई हानि पहुँचाये मेरे पाससे निकल गये हैं। याद रखिये—निडरता एवं साहसके सामने बड़ी-से-बड़ी आपत्ति भी नहीं टिक सकती।

७–आत्मविश्वास—सफलताका मूलाधार आत्म-विश्वास एवं आत्मनिर्भरता है। यदि कोई मुझसे सफल-जीवनकी परिभाषा पूछे तो मेरा उत्तर होगा—आत्मविश्वास एवं आत्मज्ञान। भगवान् उन्हींकी सहायता करते हैं, जो अपनी सहायता स्वयं करते हैं।

—स्वामी रामतीर्थ

पढ़ो, समझो और करो

(१)

प्रार्थना आत्माका भोजन है

बात उन दिनोंकी है, जब गांधीजी खादी-प्रचारके लिये देशभरमें भ्रमण कर रहे थे। मोटरमें दिन-रात यात्रा करते हुए वे आन्ध्रप्रदेशके चिकाकोल नामक स्थानमें पहुँचे। उस दिन वहाँ कताईकी प्रतियोगिताका आयोजन था। गांधीजीके साथ काका कालेलकर तथा महादेव भाई देसाई भी थे। तीनों ही इस थकानभरी यात्रासे अत्यन्त श्रान्त हो गये थे। काकासाहब तथा महादेव भाई प्रतियोगितामें नहीं गये, वे जाकर सो रहे। गांधीजीकी उपस्थिति प्रतियोगितामें अनिवार्य थी। अतः वे गये। कितनी रातको वहाँसे निवृत्त होकर सो पाये, यह कोई नहीं जान सका।

प्रातः चार बजे सभी लोग प्रार्थनाके लिये उठे। गांधीजी उस समय बैठे हुए थे। उन्होंने पूछा—'रातको सोनेके पहले क्या तुमलोगोंने प्रार्थना कर ली थी ?'

काकासाहबने सकुचाते हुए उत्तर दिया—'मैं तो थककर इतना चूर हो गया था कि प्रार्थनाकी स्मृति भी मुझे नहीं हुई। मैं कब सो गया, मुझे यह भी पता नहीं है।'

महादेव भाईने उत्तर दिया—'थका हुआ तो मैं भी बहुत अधिक था; परंतु सोनेके पूर्व मुझे प्रार्थनाका स्मरण हो आया और मैंने बिस्तरपर ही बैठकर प्रार्थना कर ली।'

गांधीजीने कहा—'मैं घंटे-डेढ़-घंटे प्रतियोगितामें बैठा था। थकानके मारे लौटकर आते ही सो गया। प्रार्थना करना ही भूल गया। दो-ढाई बजे अचानक मेरी नींद टूटी। मुझे स्मरण हो आया कि मैं आज बिना प्रार्थना किये ही सो गया था। यह ज्ञान होते ही मेरा सारा शरीर काँपने लगा। मैं पसीनेसे लथपथ हो गया। उठकर बैठा तो पश्चात्तापके मारे सोच नहीं पा रहा था कि क्या करूँ। जिसकी कृपासे मैं जीवन धारण किये हूँ, मेरी श्वास जिसकी शक्तिसे चल रही है, उसी भगवान्‌को मैं स्मरण किये बिना सो गया ! मुझे बार-बार यही पश्चात्ताप हो रहा था कि मुझे बिना प्रार्थना किये नींद आ कैसे गयी। क्या मेरे लिये प्रार्थना नींदसे भी कम आवश्यक है ? मैं बारंबार प्रभुसे क्षमा माँगता रहा। उसके बाद मुझे अबतक नींद नहीं लगी, तबसे मैं इसी प्रकार बैठा हूँ।'

इसके पश्चात् गांधीजीने सबके साथ प्रातःकालकी प्रार्थना की। प्रार्थनाका कार्यक्रम सम्पन्न होनेपर उन्होंने कहा—'सायंकालकी प्रार्थनाका कोई नियत समय न होनेसे ही यह भूल हुई है। हमलोग दिनभरका कार्यक्रम पूरा करके सोनेसे पूर्व जब समय मिलता है, तब प्रार्थना करते हैं—यही हमारी भूल है। हमें प्रार्थनाको प्रधानता देनी चाहिये। जैसे शरीरके लिये भोजन आवश्यक है, वैसे ही प्रार्थना आत्माके लिये आवश्यक है। आजसे सायंकालकी प्रार्थनाका समय निश्चित कर लिया है। ठीक सात बजे सायंकालकी प्रार्थना करनी है, फिर चाहे हम कहीं हों, कुछ भी करते हों।'

इस नियमका गांधीजीने आजीवन दृढ़तासे पालन किया। वे जहाँ भी होते—चाहे बस्तीमें चाहे जंगलमें, चाहे ट्रेनमें चाहे मोटरकारमें, चाहे किसी आवश्यक सभामें या किसी गोष्ठीमें—सायंकालके सात बजनेपर सब कार्यक्रम स्थगित करके गांधीजी प्रार्थना करने लग जाते थे।

(२)

वफादारी एवं ईमानदारी मनुष्यका धर्म है

प्राचीन बड़ौदा राज्यमें एक भले अमलदारका नाम था, श्री एस० आर० शिंदे। नौकरीके अन्तिम दिनोंमें वे मेहसानेके डिस्ट्रिक्ट जज थे। वे बहुत ईमानदार एवं स्पष्ट-वक्ता थे।

स्व० सयाजीराव महाराजके हृदयमें श्रीशिंदेकी कद्र थी। महाराजा जब-जब विदेश जाते थे, अपने निजी मन्त्रीके रूपमें वे श्रीशिंदेको अपने साथ ले जाते थे। किंतु श्रीशिंदे स्पष्टवादी एवं सत्यवक्ता होनेके कारण अन्य मन्त्रियोंके समान विशेष आर्थिक लाभ नहीं उठा सके।

एक बार महाराजाने फ्रांसके पेरिस नगरमें ठहरकर एक बड़े जौहरीकी दूकानसे बहुमूल्य जवाहरात खरीदे। दूसरे दिन दूकानका एक प्रतिनिधि श्रीशिंदेसे मिला और उसने उनसे पूछा—'आपका कमीशन नगद दिया जाय या चेकसे ?'

श्रीशिंदे ऐसी बातोंके अभ्यस्त नहीं थे। अतः उन्होंने आश्चर्यसे प्रश्न किया—'मेरा कमीशन ? किस बातका ?'

दूकानका प्रतिनिधि कुशल व्यक्ति था। वह समझ गया कि मैं किस आदमीसे बातें कर रहा हूँ। अतः उसने बड़ी विनयसे कहा—'साहब ! आपको इस बातसे बुरा नहीं मानना चाहिये। सराफ़ोंकी दूकानोंमें यही रिवाज है कि अच्छे ग्राहक लानेवालेको कमीशन दिया जाता है और उसे सभी लोग बिना संकोच ले लेते हैं। कमीशनके ऊपर तो आपका हक होता है।'

'आपका रिवाज जो भी हो', श्रीशिंदेने कहा—'किंतु मैं सरकारका कर्मचारी हूँ, मैं इसे नहीं ले सकता।'

'कमीशन स्वीकार करनेसे महाराजाको कोई नुकसान नहीं पड़ता और न अस्वीकार करनेसे उन्हें कोई फायदा होता है।' प्रतिनिधिने परिस्थिति स्पष्ट करते हुए कहा। 'यह तो हमारी दूकानकी परिपाटी है। मैं यह बात आपके महाराजाके समक्ष स्पष्ट भी कर सकता हूँ।'

'आप कृपया ऐसा न करें। आप इस कमीशनको काट करके ही अपना बिल बना दीजिये, यह कमीशन ग्राहकको ही मिलना चाहिये न कि साथमें आनेवालेको।'—श्रीशिंदेने अपना निर्णय बता दिया।

'अच्छी बात है',—प्रतिनिधि बोला। 'अगर आपकी ऐसी ही इच्छा है तो ऐसा ही किया जायगा; किंतु आप इतना बड़ा स्वार्थत्याग कर रहे हैं। आपकी ईमानदारीकी सूचना मैं महाराजाके कानतक पहुँचाऊँ तो आपको कोई हर्ज तो नहीं?'

'देखो, भाई!' श्रीशिंदेने उत्तर दिया। 'वफादारी एवं ईमानदारी मनुष्यका धर्म है और धर्म कोई प्रदर्शन या प्रचारकी वस्तु नहीं है।' 'और दूसरी बात।' थोड़ी देर रुककर श्रीशिंदेने कहा—'हमारे महाराजा यह बात जानकर भूतकालीन अधिकारियोंके प्रति शङ्का करेंगे। उस जाँच-पड़तालमें मेरे किसी पूर्ववर्ती निर्दोष अधिकारीको हैरान होना पड़ सकता है। अतः इस प्रश्नको यहीं दबा दें।'

'वाह, वाह!' नतमस्तक होकर वह प्रतिनिधि बोला—'भारतवर्षमें ऐसे व्यक्ति भी रहते हैं, जो धर्मके लिये इतनी बड़ी रकमको भी ठोकर लगा सकते हैं तथा उस त्यागका परिचय अपने मालिकको भी नहीं देते।'

श्रीशिंदेको वन्दन करके प्रतिनिधि विदा हुआ।

'अखण्ड आनन्द' —श्रीविजयकुमार मा० त्रिवेदी

(३)

आदर्श शिक्षक

घटना कुछ पुरानी है। अल्पवयस्क एक विद्यार्थी स्कूलसे छूटकर अपने साथियोंके साथ पेड़के ऊपर चढ़कर खेल रहा था। पेड़की ऊँची डालसे वह एकाएक गिर पड़ा और दैववशात् उसकी दोनों आँखें हमेशाके लिये जाती रहीं। बालकके अंधे हो जानेसे उसके माता-पिताकी वेदनाका पार नहीं था।

स्कूलके मुख्य आचार्यको जब इस घटनाकी सूचना मिली, तब वे दौड़कर विद्यार्थीके पास पहुँचे। विद्यार्थीने रोते हुए कहा—'गुरुजी! अब मैं पढ़ नहीं सकूँगा।'

'अरे मेरे पागल बच्चे!'—हँसते-हँसते आचार्य बोले—'तू क्यों नहीं पढ़ सकेगा, मैं जो बैठा हूँ?' मैं तुझे अवश्य पढ़ाऊँगा।'

विद्यार्थीका चेहरा खिल उठा। आचार्यजीके ये शब्द केवल आश्वासनके लिये नहीं थे। आचार्यजी स्वयं रातको जागकर ब्रेललिपि (नेत्रहीनोंकी पढ़ने-लिखनेकी कला) सीखने लगे। प्रतिदिन रातको अपनी आँखोंपर पट्टी बाँधकर दो-तीन घंटे वे ब्रेललिपिमें लिखी पुस्तकें पढ़नेका अभ्यास करने लगे। कुछ ही दिनोंमें वे उस लिपिके अभ्यस्त हो गये। अब वे प्रातः दस बजेसे उस विद्यार्थीको स्वयं स्कूलमें ले जाकर पढ़ाने लगे। एक-दो-तीन, नहीं पूरे सात वर्ष परिश्रम करके उन्होंने उसको एस० एल० सी०की परीक्षा पास करवा दी। इसके पश्चात् वह विद्यार्थी लगनसे पढ़ता रहा। कुछ ही वर्षोंमें उसने इन्टरमीडिएट, बी० ए० और एम० ए० की परीक्षाएँ पास कर लीं और अन्तमें वह पी-एच्० डी० हो गया।

आज वही अन्ध विद्यार्थी हमारे राष्ट्रके पञ्चवर्षीय आयोजनमें अन्धजनोंके हितका विचार करनेवाली समितिमें सलाहकार है तथा आज भी वे शिक्षक उसी स्कूलमें आचार्यके पदपर हैं। —श्रीगुणवन्तराय आचार्य

(४)

कथनी-करनीमें एकरूपता अनिवार्य है

माँ भागीरथीके बायें तटपर स्थित गीताभवन (स्वर्गाश्रम) में प्रत्येक वर्ष ग्रीष्म-ऋतुमें लगभग तीन-साढ़े-तीन महीने सत्सङ्गका आयोजन होता है। गीताभवनमें ठहरनेवाले व्यक्तियोंको गङ्गापार ले जानेके लिये यन्त्र-चालित नौका (मोटर-बोट) की व्यवस्था है। प्रतिदिन सैकड़ों-हजारों तीर्थयात्री भी स्वर्गाश्रम पधारते हैं। उस मोटरबोटद्वारा दर्शनार्थ आने-जानेवाले यात्रियोंको भी गीताभवनके यात्रियोंके साथ यथासम्भव गङ्गापार करनेका सुअवसर दिया जाता है। पर जब गङ्गाजीमें जल बढ़ जाता है, तब बोटद्वारा गङ्गापार करना निरापद नहीं रहता। उन दिनों अनिवार्य होनेपर ही सीमित यात्रियोंको लेकर बड़ी सावधानीके साथ बोट चलाया जाता है। उस समय दर्शनार्थ आये यात्रियोंको बोटद्वारा गङ्गापार होनेकी सुविधा बहुत कम उपलब्ध हो पाती है; पर, 'रहत न आरत के चित चेतू' की उक्तिके अनुसार यात्री जबरन बोटपर आरूढ़ होनेका प्रयत्न करते हैं। बोटके कर्मचारी स्थितिकी गम्भीरताका ज्ञान रखनेके कारण उन व्यक्तियोंके साथ सहानुभूति रखते हुए भी उनके दुराग्रहको स्वीकार नहीं कर पाते। परिणामतः कभी-कभी

कुछ यात्री उग्र हो जाते हैं और बोट-कर्मचारियोंके साथ संघर्ष कर बैठते हैं।

इसी प्रकारकी विकट परिस्थिति ५-६ वर्ष पूर्व एक दिन गीताभवनके बोट-कर्मचारियोंके समक्ष उपस्थित हो गयी। गीताभवनमें ठहरे हुए यात्रियोंको पहुँचानेके लिये बोट लगा हुआ था और उसमें सामान लादा जा रहा था। दर्शनार्थ आनेवाले यात्रियोंको उस बोटद्वारा पार ले जाना सम्भव नहीं था। सीमित व्यक्तियोंसे अधिक व्यक्तियोंके सवार होनेसे बोटके डूब जानेका भय था। बोटके कर्मचारी दर्शनार्थियोंको हाथ जोड़कर बड़ी ही नम्रतापूर्वक अपनी लाचारीका परिचय दे रहे थे और प्रायः यात्री उनकी विवशता समझकर वहाँसे हट जा रहे थे। इसी समय एक प्रसिद्ध नगरसे आये हुए एक सम्भ्रान्त परिवारके आठ-दस सदस्य उस बोटपर चढ़नेके लिये पहुँचे। उनमें दो-तीन पुरुष थे, दो-तीन बच्चे तथा शेष महिलाएँ। बोटके कर्मचारियोंने उन्हें पूरी स्थितिसे अवगत कराया और समझाया—'गीताभवनमें ठहरे हुए कुछ यात्रियोंको उस पार पहुँचानेके लिये ही बोट लगा हुआ है। यात्रियोंकी संख्या पर्याप्त है और श्रीगङ्गाजीकी बढ़ी हुई स्थितिमें अधिक यात्रियोंके साथ बोट ले जानेमें उसके उलट जानेका पूरा भय है।' परंतु उन नागरिकोंने कर्मचारियोंकी इस अनुनय-विनयका मजाक उड़ाया और जबरदस्ती बोटपर चढ़नेका प्रयत्न किया। जब कर्मचारियोंने उन्हें यों करनेसे रोका, तब उन नागरिकोंने अपशब्द कहे तथा पीटनेकी धमकी दी। बात बढ़ गयी और कर्मचारियोंपर कुछ घूँसे पड़े तथा उनके कपड़े भी फट गये। उन यात्रियोंमें भी जो सबसे बड़े व्यक्ति थे, उनके कपड़े फट गये। स्थितिको बिगड़ते देखकर घाटपर खड़े लोगोंने बीचमें हस्तक्षेप करके दोनों ओरके व्यक्तियोंको पृथक्-पृथक् कर दिया।

बोटके कर्मचारी बेचारे कर्मचारी ही ठहरे। अतएव वे उन यात्रियोंको भला-बुरा कहते हुए अपने काममें लग गये। परंतु उन यात्रियोंने इस घटनाको बड़ा अपमान समझा और वे इसके लिये पुलिसमें रिपोर्ट करनेके लिये जाने लगे। संयोगवश वहाँपर खड़े हुए कुछ व्यक्तियोंने उन्हें समझाया—'यह बोट गीताभवनका है और गीताभवनके प्रधान श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) आजकल यहीं हैं। आप उन्हींके पास जाइये और उन्हें अपना दुःख सुनाइये।' यात्रीलोग 'कल्याण' के पुराने ग्राहक थे और उनके हृदयमें श्रीपोद्दारजीके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। अतएव लोगोंका परामर्श मानकर वे श्रीभाईजीके निवास-स्थानपर जा पहुँचे। क्रोधके मारे उनका हृदय जल रहा था और वे बड़े ही कठोर शब्दोंमें प्रतिशोध लेनेके विविध रूपोंका उल्लेख कर रहे थे।

उस समय श्रीभाईजी अपने कमरेमें थे। जब उन्होंने कुछ लोगोंकी क्रोधजनित धमकियाँ तथा अपशब्द सुने, तब वे अपनी सहज प्रसन्न एवं शान्त मुद्रामें कमरेसे बाहर आये। दोनों हाथ जोड़े हुए सबका अभिवादन करते हुए उन्होंने कहा—'आइये, यहाँ विराजिये।' श्रीभाईजीके इन प्रेमभरे शब्दोंने तथा उनकी सहज आत्मीयताने जादूका-सा काम किया और वे सभी सज्जन श्रीभाईजीके समीप वहीं बरामदेमें बैठ गये। श्रीभाईजीने कहा—'आपलोग इतने दुःखी क्यों हो रहे हैं, कृपया निवेदन करें।' बस, इतना संकेत पाते ही उन्होंने अपना रोष प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया। मनुष्यस्वभावकी यह कमजोरी है कि उसकी दृष्टि अपनी भूलोंकी ओर नहीं जाती, दूसरेमें ही सब दोष दिखायी पड़ते हैं। यही बात उन लोगोंके साथ थी। उन्होंने खूब अतिरञ्जित करके बोटके कर्मचारियोंका दोष बताया तथा यह प्रश्न उपस्थित किया कि 'हमें भी आज घर लौट जाना है। ऐसी स्थितिमें हमें बोटसे पार क्यों नहीं किया गया?' श्रीभाईजीने बड़े ही शान्तभावसे उनकी प्रत्येक बात सुनी और फिर वे बोले—'आपलोग जैसा कह रहे हैं, यदि ऐसा ही हुआ है तो सचमुच बहुत ही अशोभन है। परंतु बोटके कर्मचारी पुराने व्यक्ति हैं और प्रतिदिन उनका सैकड़ों व्यक्तियोंसे काम पड़ता है। आजतक ऐसे अभद्र व्यवहारकी शिकायत उनके सम्बन्धमें नहीं आयी है। सम्भव है, आपलोगोंके द्वारा हुई किसी चेष्टाका उन्होंने गलत अर्थ लिया हो। मैं उन लोगोंको बुलाकर पूछूँगा और उनकी भूलके लिये उन्हें सावधान करूँगा। आपलोग उन्हें क्षमा कर दीजिये और शान्त हो जाइये।'

श्रीभाईजीके ये सद्भावपूर्ण शब्द भी उन लोगोंके क्रोधसे तप्त हृदयको रुचिकर नहीं लगे। वे क्रोध और दुःखके आवेशमें कर्मचारियोंके प्रति प्रतिहिंसाके शब्द बोलने लगे। संतका हृदय नवनीतके सदृश होता है। वे किसीके भी अनिष्टको सहन नहीं कर पाते। श्रीभाईजीको लगा होगा—ये महानुभाव अपने व्यस्त जीवनमेंसे कुछ समय निकालकर माँ गङ्गाके जलसे पवित्र होने तथा पुण्यभूमि एवं संत-महात्माओंके दर्शन करनेके लिये आये हैं; किंतु अहंताके वशीभूत होकर यहाँसे ले जा रहे हैं—प्रतिहिंसा, द्वेष, घृणा, असद्भाव, अशान्ति, जो लोक और परलोक दोनोंके विघातक हैं। अतएव इनके इन दोषोंके परिक्षालनका उपाय उन्होंने किया। श्रीभाईजीने दोनों हाथ जोड़ लिये और बड़े ही मन्द स्वरमें निवेदन किया—'बोटके कर्मचारी हमारे व्यक्ति

हैं । कर्मचारीकी चेष्टा मालिककी चेष्टा होती है । हमारे कर्मचारियोंके द्वारा जो कुछ भी अपराध हुआ है, उसे मैं अपने द्वारा हुआ अपराध मानता हूँ और इसके लिये आप सबसे क्षमा चाहता हूँ । आप उन कर्मचारियोंके प्रति प्रतिहिंसाके विचारको सर्वथा त्याग दीजिये । मैं आपके समक्ष नतमस्तक हूँ······।' इतना कहते-कहते श्रीभाईजीकी आँखोंमें अश्रुकण छलक आये और उन्होंने अपना मस्तक उन लोगोंके समक्ष जमीनपर टेक दिया । उनके दोनों हाथ उसी प्रकार जुड़े हुए थे । सबके श्रद्धास्पद, वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध महापुरुषको इस प्रकार नेत्रोंमें जल भरे, हाथ जोड़े तथा पृथ्वीपर मस्तक टेककर क्षमा-याचना करते हुए देखकर यात्रियोंका हृदय द्रवित हो गया और वे सब-के-सब सुबक-सुबककर रोने लगे । नवयुवकोंने अपने हाथोंसे श्रीभाईजीके मस्तकको ऊँचा किया और स्वयं उनके परम-पावन चरणोंमें गिर पड़े । एक अपूर्व सात्त्विक दृश्य उपस्थित हो गया ! सब मौन थे और सबकी आँखें झर रही थीं । यात्रियोंका रोष, उनका असंतोष, उनकी घृणा आदि अश्रुबिन्दुओंके साथ बह गये थे । अब उनका हृदय इस वेदनासे परिपूर्ण था कि श्रीभाईजी-जैसे सच्चे एवं निर्दोष संतको अपने व्यवहारसे हमने क्यों व्यथित किया । वे उनके चरणोंपर सिर रखे हुए यही भीख माँग रहे थे—'भाईजी ! हमारे कारण आपका हृदय व्यथित हुआ, इसके लिये हमें क्षमा कीजिये ।' श्रीभाईजीने अपनी धोतीके छोरसे अपने नेत्र पोंछे और उन नवयुवकोंके सिरपर प्यारसे हाथ फेरते हुए उन्हें ऊपर उठाया । साथ ही उन्होंने अपने सेवकको, जो इस मर्मस्पर्शी दृश्यको देखकर द्रवित हो रहा था, जल लानेका आदेश दिया । जल आनेपर श्रीभाईजीने सब व्यक्तियोंको मुँह धोनेके लिये कहा । जब सब मुँह धोकर तैयार हो गये, श्रीभाईजीने उनसे प्रार्थना की—'भोजन तैयार है । आप सब लोग भोजन करके जाइयेगा ।' जिस भाईके कपड़े फट गये थे, उनके लिये नये कपड़े लानेका आदेश अपने सेवकको दिया, किंतु उस भाईने हाथ जोड़कर विनय की—'भाईजी ! आपकी कृपासे किसी चीजकी कमी नहीं है । कपड़े साथमें हैं, मैं बदल लेता हूँ । हाँ, आपके यहाँका प्रसाद हमलोग अवश्य ग्रहण करेंगे ।'

सब व्यक्ति प्रसाद ग्रहण करने लगे । श्रीभाईजीकी धर्मपत्नी आदि परिवारके सदस्य बड़ी मनुहारके साथ उन्हें भोजन करा रहे थे । उधर श्रीभाईजीने बोटके कर्मचारियोंको बुलाया और उन्हें बड़े ही प्रेमसे समझाया । उन लोगोंने पूरी परिस्थितिका परिचय देते हुए अपनी भूल स्वीकार की कि उन लोगोंके अभद्र व्यवहार करनेपर भी हमें क्षुभित नहीं होना चाहिये था । अपनी भूलके लिये वे बार-बार क्षमा-याचना करने लगे । श्रीभाईजीने उनसे कहा—'तुम लोगोंको यात्रियोंसे क्षमा-याचना करनी चाहिये । वे लोग भोजन करके अभी बाहर आ रहे हैं तथा बड़े प्रेमसहित उन्हें बोटद्वारा उस पार पहुँचाकर आना ।' इसी बीच यात्री प्रसाद ग्रहण करके बाहर आ गये । बोटके कर्मचारियोंने उनसे हाथ जोड़कर अपनी भूलके लिये क्षमा माँगी । उन यात्रियोंमेंसे पुरुषोंने कहा—'आपलोग हमें हमारे अभद्र व्यवहारके लिये क्षमा कीजिये ।' दोनों ओरके हृदय शान्त थे, दोनों ओर अपनी भूलकी स्वीकृति थी और उसके लिये क्षमा-याचना थी ।

श्रीभाईजीने यात्रियोंसे प्रार्थना की—'अब आपलोग इन कर्मचारियोंके साथ जाइये । ये आपलोगोंको बोटद्वारा उस पार पहुँचा देंगे ।' सबने श्रीभाईजीको प्रणाम किया और उनका आशीर्वाद लेकर बोटके कर्मचारियोंके साथ विदा हो गये ।

यात्रियोंके जानेके पश्चात् सेवकने श्रीभाईजीसे कहा—'बाबूजी ! आपने तो साधुताकी हद ही कर दी । इस प्रकारसे उन नवयुवकोंके सामने नेत्रोंमें जल भरकर तथा हाथ जोड़े हुए पृथ्वीपर मस्तक टेककर क्षमा-याचना करनेकी क्या आवश्यकता थी ?' श्रीभाईजीने सहज भावसे उत्तर दिया—'तुम्हारा अपने दृष्टिकोणसे कहना ठीक है; किंतु किसीको हमारे व्यवहारद्वारा उद्वेग प्राप्त हुआ हो तो उसके लिये हमें सच्चे हृदयसे परिताप होना ही चाहिये । ऐसा करना साधुता नहीं है, यह तो अपनी भूलका परिशोधन है । बोटके कर्मचारी हमारे हैं; **उनके व्यवहारका दायित्व हमपर है । हम गीता-भवनमें प्रवचनकर्त्ताके स्थानपर बैठकर तथा सम्पादकके रूपमें 'कल्याण' में जो-जो बातें कहते-लिखते हैं, कम-से-कम वे तो हमारे जीवनमें होनी ही चाहिये । यदि वे हमारे जीवनमें और व्यवहारमें न आयें तो हमें न तो प्रवचन ही करना चाहिये, न 'कल्याण' में ही कुछ लिखना चाहिये । कथनी-करनीमें एकरूपता अनिवार्य है; आचरणके बिना उपदेश व्यर्थ है—बकवास है—कुत्तेकी भाँति भौंकना है—**

करनी बिन कथनी कथे, अज्ञानी दिन-रात ।
कूकर जिमि भूसत फिरे, सुनी-सुनायी बात ॥

—सेवकको अपनी भूल समझमें आयी । उसने अपना मस्तक श्रीभाईजीके चरणोंमें टेक दिया । उसकी आँखोंसे अश्रुजल बह रहा था ।

सम्मान्य एवं प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंको सूचना तथा निवेदन

१—'कल्याण'का यह ४६वें वर्षका १०वाँ अङ्क है। ११वाँ एवं १२वाँ अङ्क—ये दो अङ्क और निकल जानेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। सदाकी भाँति ४७वें वर्षका प्रथम अङ्क विशेषाङ्क होगा। इस वर्षका विशेषाङ्क 'श्रीविष्णु-अङ्क' के नामसे प्रकाशित होने जा रहा है। 'श्रीविष्णु-अङ्क'में भगवान् विष्णु तथा भगवती लक्ष्मीके स्वरूपतत्त्व, नामतत्त्व, लीलातत्त्व और धामतत्त्वपर आचार्यों, भक्तों एवं विद्वानोंके बड़े ही महत्त्वपूर्ण विचार रहेंगे। साथ ही इस अङ्कमें भगवान् श्रीविष्णुके आदर्श गुणों, प्रभाव, महत्त्व आदिपर भी विशेष प्रकाश डाला जायगा। अवतार-सिद्धान्तके विवेचनके साथ भगवान्के विभिन्न अवतारोंका संक्षिप्त, किंतु सरस परिचय रहेगा। त्रिदेवोंके स्वरूप, एकता एवं कार्योंपर भी पर्याप्त सामग्री रहेगी। वैष्णवी देवियों, वैष्णव शास्त्रों, वैष्णव आचार, उपासना, व्रत, तीर्थ, मन्दिरों आदिका भी दिग्दर्शन इसमें कराया जायगा। विभिन्न वैष्णवदर्शनों, उनके प्रवर्तक परम पूजनीय आचार्यों-महात्माओं तथा प्रसिद्ध विष्णुभक्तों आदिका परिचय भी दिया जायगा। भगवान् श्रीलक्ष्मीनारायणकी प्रसन्नता और कृपा-प्राप्तिके लिये तथा उनके साक्षात्कारके लिये सफल अनुष्ठान, मन्त्र, स्तोत्र आदि भी रहेंगे। भगवान् श्रीविष्णुके ध्यानके तथा उनके अवतारोंके अनेक सुन्दर भावपूर्ण रंगीन चित्र दिये जायँगे। इस प्रकार भगवान् श्रीविष्णु-सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक विषयोंपर प्रामाणिक सामग्रीका संग्रह इस अङ्कमें रहेगा और अङ्क तत्त्व एवं साधनाकी दृष्टिसे बड़ा ही महत्त्वपूर्ण होगा।

२—गतवर्षकी भाँति इस वर्ष भी 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क १०.०० रुपये ही है। यह सर्वविदित है कि कागजके दाम लगातार बढ़ रहे हैं तथा छपाईके अन्य उपकरणोंके मूल्योंमें भी वृद्धि हो रही है। कर्मचारियोंके वेतन आदि इधर दो-तीन वर्षोंमें बहुत बढ़ गये हैं। इस वर्ष इक्साइज ड्यूटी तथा गतवर्ष डाक-पोस्टेज बढ़ गया था। इन सब कारणोंसे 'कल्याण' में आगामी वर्ष लगभग ४-४॥ लाख रुपयेका घाटा लगनेकी सम्भावना हो गयी है। गतवर्षोंसे 'कल्याण' को बराबर ढाई लाखसे ऊपर घाटा हो रहा है। ऐसी परिस्थितिमें 'कल्याण' का वार्षिक शुल्क दो वर्ष पूर्व एक रुपया बढ़ाकर १०.०० रुपये कर देना पड़ा था। इस वर्ष पुनः शुल्क बढ़ानेकी विवशतापूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी है, परंतु गम्भीरतासे विचार करनेपर यह बात ध्यानमें आयी कि 'कल्याण' का शुल्क १०.०० रुपयेसे अधिक न किया जाय; अन्यथा सर्वसाधारणको उसे प्राप्त करनेमें असुविधा हो सकती है। अतः बढ़ते हुए घाटेको कुछ नियन्त्रित करनेके लिये 'कल्याण'के विशेषाङ्कमें पृष्ठ-संख्या कम कर देना अधिक उपयुक्त होगा—इस विचारसे विशेषाङ्कमें कुछ पृष्ठ कम करनेका निश्चय किया गया है। गत विशेषाङ्कमें ७०० पृष्ठ थे, इस वर्ष ५४० पृष्ठ दिये जायँगे। ऐसा निर्णय लेनेमें हम स्वयं बहुत संकुचित हैं, किंतु सर्वसाधारणको 'कल्याण' सरलतासे सुलभ करानेकी हमारी नीतिका निर्वाह करनेमें हमें ऐसा करनेके लिये विवश होना पड़ा है। आशा है, कृपालु सदस्य हमारे इस निश्चयका स्वागत करेंगे। पृष्ठ-संख्या कम करनेके साथ ही हम इसके लिये पूर्ण प्रयत्नशील हैं कि श्रीविष्णु-सम्बन्धी आवश्यक सभी विषयोंपर ठोस सामग्रीका समावेश इतने कलेवरमें ही कर दिया जाय। हमें विश्वास है कि भगवान्की कृपा एवं संत-महात्माओं, विद्वानों आदिके आशीर्वाद तथा बहुमूल्य सहयोगसे यह विशेषाङ्क पिछले विशेषाङ्कोंकी भाँति ही सुन्दर एवं उपयोगी होगा। मासिक साधारण अङ्कोंमें जितने पृष्ठ दिये जा रहे हैं, वे उसी रूपमें दिये जाते रहेंगे।

३—सदस्योंको अपना वार्षिक शुल्क शीघ्र भेजनेकी कृपा करनी चाहिये । सदस्योंकी सुविधाके लिये मनीआर्डर-फार्म गत मासके अङ्कके साथ भेजा जा चुका है । रुपये भेजते समय मनीआर्डरमें अपना नाम, पता, ग्राम या मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ-साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें । ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें । नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखना न भूलें । ग्राहक-संख्या न लिखनेसे आपका शुभनाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है ।

४—सदस्योंको रुपये भेजनेमें शीघ्रता करनी चाहिये, कारण विशेषाङ्क सीमित संख्यामें ही छापा जा रहा है । गत वर्ष 'श्रीरामाङ्क' के लिये कई हजार व्यक्तियोंको निराश होना पड़ा । श्रीविष्णु-अङ्कके सम्बन्धमें भी यही बात समझनी चाहिये । अतः मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजकर अपना अङ्क पहलेसे सुरक्षित करा लेना चाहिये ।

५—जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर अवश्य सूचना दे दें, जिससे आपके 'कल्याण' को व्यर्थ हानि न सहनी पड़े ।

६—इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत विलम्बसे दिये जानेकी सम्भावना है । यों सजिल्द अङ्कका वार्षिक मूल्य ग्यारह रुपये पचास पैसे हैं ।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)